विषय-सूची

भूमिका

आज तक, जितना हमने देखा और सुना, हमें सीतादेवी की समता करने वाली स्त्री कहीं दिखाई नहीं दी। हमें तो इसमें भी सन्देह है कि भविष्यकाल में ऐसी कोई स्त्री उत्पन्न होगी जो गुणों में जनक-नन्दिनी की समता कर सके। हमीं नहीं, बड़े बड़े प्रतिभाशाली कवि हार कर थक गये, परन्तु उनको भी सीताजी की उपमा कहीं न मिली। इसी लिए महर्षि वाल्मीकि ने सीतादेवी को अनुपमा कहा है। क्या सरलता में, क्या सुशीलता में, क्या सच्चरित्रता में, क्या पतिपरायणता में, क्या कृतज्ञता में, क्या गम्भीरता में और क्या सुन्दरता में, सभी बातों में सीतादेवी अद्वितीय थीं। यदि कोई हम से पूछे कि यहाँ सतीशिरोमणि स्त्री कौन हो गई है तो हम उत्तर में कहेंगे कि सीतादेवी। यदि कोई सरलता और पवित्रता की मूर्तिमती नारी का पता लगाना चाहे तो हमारा संकेत पहले महारानी सीतादेवी की ओर होगा। यदि कोई यह जानना चाहे कि सबसे अधिक अलौकिक सौन्दर्य्यसम्पन्ना नारी कौन हो गई है तो हम बड़ी प्रसन्नता से उत्तर देंगे कि महाराज रामचन्द्रजी की प्राणेश्वरी सीतादेवी।

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात" इस किंवदन्ती के अनुसार सीतादेवी बाल्यकाल से ही होनहार प्रतीत होने लगीं। उनके लिए यह बड़े ही सौभाग्य की बात थी कि उनका जन्म राजर्षि जनक जैसे महात्मा के घर हुआ। राजर्षि जनक के घर में लालित और पालित होकर सीतादेवी का स्वाभाविक सारल्य और सौशील्य और

भी वृद्धिंगत हो गया। महात्मा जनक के उदार भावों का, उनके सदाचार का, उनके धर्मानुराग और कर्तव्यनिष्ठा का, सीतादेवी के कोमल हृदय पर, बचपन से ही बहुत अच्छा प्रभाव पड़ने लगा। यद्यपि ये सब सद्गुण सीतादेवी में स्वाभाविक रीति से ही विद्यमान थे तथापि महात्मा जनक के प्रत्यक्ष सदाचरण से उनके वे सब गुण और भी अधिक प्रकाशित हो गये। राजर्षि जनक की धार्मिक शिक्षा ने सीतादेवी के स्वाभाविक सद्गुणों में वह शक्ति डाल दी कि जिससे संसार की समस्त सदाचारिणी सतियों में सीतादेवी का सम्मान सर्वोच्च हो गया।

सबसे बड़े सौभाग्य की बात सीतादेवी के लिए यह हुई कि उनके अनुरूप ही उनको स्वामी मिले। ऐसे अनुकूल शोभाधाम *मनोभिराम रामचन्द्रजी को पति पाकर सीतादेवी का सौभाग्य सौ* गुना हो गया। ऐसे गुणाभिराम स्वामी के हाथ में आत्म-समर्पण कर के सीतादेवी कृतकृत्य हो गईं। उन्होंने अपने स्वामी की कैसी सेवा की, उनका कितना मान किया और उनके आनन्द के लिए उन्होंने कितना कष्ट सहा,—इत्यादि बातों के बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इन सब बातों का प्रत्यक्ष प्रमाण उनके जीवन की प्रत्येक घटना के पढ़ने से विदित हो जायगा। वे पति को ही अपना इष्टदेव, पति को ही अपना आराध्य देव और पति को ही अपना सर्वस्व मानती थीं। पति के सुख में ही वे अपना सुख और उनके दु:ख में दु:ख समझती थीं। सीतादेवी और रामचन्द्र जी दोनों दम्पती एक-मन, एक-सङ्कल्प और एक-प्राण थे। दोनों ही धर्मानुरागी, दोनों ही सत्यवादी, दोनों ही विशुद्ध-स्वभाव और दोनों ही साधुशील थे। दोनों ही अलौकिक गुणों की खान थे; दोनों ही जगत् में मानों सौन्दर्य्य और लावण्य के मूर्तिमान् उदाहरण थे। इसी का नाम आध्यात्मिक सम्मिलन है और इसी को शास्त्रकारों ने वास्तविक विवाह बतलाया है।

सीतादेवी अनन्त गुणों की आधारभूता थीं। उनके गुणों का वर्णन हम कहाँ तक करें। जिस समय उनके स्वामी को वनवास की आज्ञा मिली और उन्होंने सुना, उस समय, उन्होंने जो दुष्कर कर्म किया, अपने पातिव्रत धर्म का जो सच्चा प्रेम दिखलाया वह किसी से छिपा नहीं है। एक राजदुलारी और राजवधू का, राजसी सुख-विलासों को त्याग कर, अपने धर्म के पालन करने के लिए, पति-देव के साथ, दो चार दिन के लिए नहीं, पूरे चौदह वर्ष के लिए, वन को निकल जाना साधारण बात नहीं है।

सीतादेवी ने पतिदेव के साथ वन में रह कर बड़ी उत्तमता से अपने कर्तव्य का पालन किया। सीतादेवी कहा करती थीं कि पति-देव के चरणकमलों के दर्शन करने से मुझको जो आनन्द मिलता है वह अनिर्वचनीय है। पतिदेव के साथ वे वन को अयोध्या से भी अधिक सुखदायक समझती थीं। जब रामचन्द्रजी ने वन के दुःखों का वर्णन करके उनको समझाया था तब उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया, वह भारतवर्ष की ललनाओं के ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा था कि हे नाथ, आपके बिना मुझको अयोध्या नरक और आपके साथ वन में रहना स्वर्ग के समान है। उनका सिद्धान्त था कि स्त्री के लिए पति को छोड़ कर और कोई आराध्य देव नहीं है। पति ही स्त्रियों का पूज्य देव, वही व्रत, वही नियम और वही तीर्थरूप है। उनका यह निश्चय था कि जो स्त्री पतिदेव का निरादर करके नाममात्र के कल्पित देवों का पूजन करती हैं और चेतन तीर्थरूप पति को छोड़ कर जड़ तीर्थों के लोभ में अटन करती हैं वे घोर पाप की भागिनी होती हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति को ही सर्वस्व मानती हैं।

रावण के पंजे में फँस कर भी सीतादेवी ने अपने धर्म की रक्षा करके अपने आत्मिक बल का बहुत ही अच्छा परिचय दिया है। रावण

ने सीतादेवी को अनेक प्रलोभन दिये, नाना प्रकार के लालच दिखलाये और बहुत कुछ डराया धमकाया, परन्तु वे अपने धर्म से लेशमात्र भी विचलित न हुईं। "धर्मो रक्षति रक्षितः" के अनुसार, अन्त में सीताजी के धर्म-बल ने ही उनकी रक्षा की। उनके धर्म ने ही उनको विपत्ति के महासागर से पार किया।

सीतादेवी में अभिमान नाम को भी न था। वे सब के साथ यथोचित वर्त्ताव करती थीं। उन्होंने कभी किसी को रुष्ट नहीं किया। अपने स्वामी के अतिरिक्त उन्होंने कभी किसी पुरुष की ओर कुभाव से आँख उठा कर नहीं देखा। ईश्वर की कृपा से उनके सारे ही कुटुम्बी धर्मात्मा और सदाचारी थे। एक लक्ष्मणजी को ही देखिए। वाल्मीकि-रामायण में लिखा है कि लक्ष्मणजी ने कभी सीता जी का कोई अंग नहीं देखा। चरणों के अतिरिक्त उन्होंने सीताजी के किसी अंग पर कभी दृष्टिपात नहीं किया। उसके प्रमाण में ऋष्यमूक पर्वत की उस कथा को याद कीजिए, जब सीताजी के आभूषणों की परीक्षा लक्ष्मणजी से कराई गई थी। उस समय लक्ष्मणजी ने सीतादेवी के पैर का केवल एक आभूषण पहचाना था। हाथ के कंकण को देख कर उन्होंने कहा था कि मैं इसको नहीं पहचानता! बात यह है कि जैसी शुद्धाचारिणी, पवित्रस्वभावा और पवित्रता सीतादेवी थीं उसी प्रकार क्या पति और क्या देवर, उनके सारे ही सम्बन्धी धर्मात्मा और सदाचारी थे।

पतिव्रता नारी, पति के द्वारा कितना ही कष्ट पहुँचने पर भी, कभी अपने मन में विकार नहीं उत्पन्न करती। पति चाहे कुछ कहे, पर साध्वी स्त्री उलट कर पति को कभी उत्तर नहीं देती। पतिव्रता नारी पतिदेव की सेवा-शुश्रूषा अपने हाथ से करने में अपना परम सौभाग्य समझती है।

सीतादेवी के हृदय में धर्म की रक्षा का भाव, कर्तव्य-पालन का उत्साह बहुत ही प्रबल था। जिस समय सीतादेवी गर्भवती थीं उस समय लोकनिन्दा के भय से रामचन्द्रजी ने उनको वन मे त्याग दिया था। अपने त्याग की बात सुन कर सीतादेवी ने लक्ष्मणजी से जो कुछ कहा उसको सुन कर पाठक-पाठिकागण सीतादेवी की महानुभावता का अनुमान कर सकते हैं। उन्होंने गंगा के तट पर लक्ष्मणजी से कहा था "पति ही स्त्री का देवता, पति ही बन्धु और पति ही गुरु होता है। अतएव यदि मेरे प्राणदान से भी पति का मङ्गल होता हो तो मैं सहर्ष प्राण देने को तैयार हूँ।"

इसी प्रकार सीताजी ने अपना सारा जीवन धर्म-कर्म और कर्तव्य-पालन में ही व्यतीत किया। उन्होंने कभी अपने समय को व्यर्थ नहीं खोया। वे सदा कुछ न कुछ काम किया करती थीं। वे अपने सब कामों में धर्म, सत्य और न्याय का विचार तथा ध्यान रक्खा करती थीं। उन्होंने मनसा वाचा कर्मणा कभी अधर्म और अन्याय नहीं किया। उनमें कितने ही ऐसे गुण थे कि जिनसे दूसरों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। उनकी सुशीलता से सब स्त्रियाँ उनकी मुट्ठी में रहा करती थीं। उनका सम्भाषण बड़ा कोमल, मधुर और प्रिय होता था। उन्होंने अप्रिय भाषण से कभी किसी के चित्त को नहीं दुखाया।

यहाँ पर कोई कह सकता है कि जब रामचन्द्रजी मारीच के पीछे दूर चले गये थे तब सीताजी ने अनेक कहनी बिनकहनी बातों से लक्ष्मणजी का चित्त दुखाया था। परन्तु, यदि विचार कर देखा जाय तो उसमें भी कुछ रहस्य अवश्य था। सीताजी के हृदय में रामचन्द्रजी के प्रति प्रेम की अधिकता ने ही उनसे उस समय ऐसा कहलवा दिया। उस घटना से भी यही विदित होता है कि वे रामचन्द्रजी को बहुत चाहती थीं। अपने प्राणेश्वर पर आपत्ति आने की शंका से यदि

सीताजी ने घबरा कर लक्ष्मणजी को दो चार मर्मभेदी बातें सुना भी दीं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वह सब सम्भव था, स्वाभाविक था और उनके अनुरूप था।

ऐसी जगन्मान्या, त्रिभुवनसुन्दरी, सच्चरित्रा, सतीमूर्धन्या, धन्या जानकी देवी के पावन और अनुकरणीय चरित के सुनने की किस स्त्री अथवा पुरुष के हृदय में इच्छा उत्पन्न न होगी? सर्वगुणाढ्या सीतादेवी के सद्गुणों को सुन कर सभी सज्जन स्वर्गीय सुख का अनुभव करने लगते हैं। उनकी इसी परमपावनी गुणावली ने हमारे हृदय में प्रविष्ट होकर हमको "सीताचरित" लिखने के लिए प्रेरित किया था। यद्यपि सीताजी के चरित से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पुस्तकें अनेक भाषाओं में लिखी जा चुकी हैं, परन्तु जिस ढंग से हमने यह सीताचरित लिखा है, इस ढंग की कोई पुस्तक, जहाँ तक हम जानते हैं, अभी हिन्दी में नहीं बनी। बनी हो तो हमारे देखने में नहीं आई। हाँ, बँगला में 'सीता' नाम की एक किताब बहुत अच्छी लिखी गई है। उसको हमने पढ़ा और उसका ढंग भी हमको बहुत पसन्द आया। हमारा यह 'सीताचरित' बँगला 'सीता' के ढंग पर, वाल्मीकिरामायण के आधार पर, लिखा गया है।

जहाँ कहीं हमने वाल्मीकिरामायण के श्लोकों का हिन्दी अनुवाद मात्र दिया है वहाँ उस अनुवाद पर हमने " " यह चिह्न कर दिया है और साथ ही काण्ड और सर्ग की संख्या भी देदी है। कहीं कहीं अत्युपयोगी श्लोक भी हमने ज्यों के त्यों रख कर उनका सरल हिन्दी में अनुवाद दे दिया है।

सीतादेवी का चरित स्त्रियों के लिए बहुत ही लाभदायक है। स्त्रियों के लिए यदि कोई चरित आदर्श हो सकता है तो वह सीता-चरित ही है। सीताजी का समस्त चरित उपदेश से भरा पड़ा है।

उनके जीवन की एक एक घटना से स्त्रियां बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। स्त्रियों के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है वे सब गुण सीतादेवी में विद्यमान थे। अतएव उनके चरित को पढ़ने, समझने और तदनुकूल शिक्षा ग्रहण करने पर स्त्रियाँ सभी उपयोगी गुणों को धारण कर सकती हैं।

आज कल स्त्रीशिक्षोपयोगी हिन्दी-पुस्तकों का अभाव देख कर ही हमने यह 'सीताचरित' लिखा है। आशा है, भारतवर्षीय ललनायें इस सीताचरित को पढ़ और समझ कर इससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगी।

हम अपना काम कर चुके। स्त्रीशिक्षोपयोगी उत्तम पुस्तकों का प्राय. हिन्दी में अभाव देख कर हमारे मन मे इस पुस्तक के प्रणयन करने की जो प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई थी वह, ईश्वर की कृपा और इंडियन प्रेस के स्वामी अथ च हिन्दी-पुस्तकों के परमोत्साही प्रकाशक श्रीमान् बाबू चिन्तामणि घोष की सहायता से पूर्ण हो चुकी। अब हिन्दी-पाठकों तथा पाठिकाओं का कर्तव्य है कि वे इस पुस्तकों को पढ कर इससे उपयोगी शिक्षा ग्रहण करें।

यदि इस पुस्तक से भारतवर्षीय महिलागण को कुछ भी लाभ पहुँचा तो हम इतने से ही अपने श्रम को सफल समझेंगे।

लेखक।

सीताचरित

पहला काण्ड

जन्म और स्वयंवर विवाह

जिस प्रदेश को आजकल तिरहुत कहते हैं और जहाँ आजकल दरभंगा है वही प्रदेश, उसी के आस पास की जगह, पहले मिथिला कहलाती थी। इसी मिथिला प्रदेश में पहले बड़े बड़े प्रतापी राजा राज्य करते थे। मिथिला प्रदेश के प्राचीन राजाओं का वंश बहुत ही उच्च, प्रतिष्ठित और सुविख्यात था। इस वंश का आदि-पुरुष निमि था। यही इस वंश का पहला और प्रतिष्ठित राजा था। इसी लिए इस वंश का नाम निमिवंश कहलाता है। उन्हीं महात्मा निमि के मिथि और मिथि के जनक नामक पुत्र हुए। इन्हीं के नाम पर मिथिला के समस्त राजपुरुष जनक कहलाये।

जिस समय अयोध्याधीश महाराज दशरथ अपने शुभ जन्म-कर्मों से साधारणतया समस्त आर्यभूमि को और विशेषतया अवध-प्रान्त को कृतार्थ और पवित्र कर रहे थे, उसी समय मिथिलाधिपति महाराज जनक अपने पवित्र राजसिंहासन पर विराजमान होकर अपने कुल की मान-मर्यादा बढ़ा रहे थे। महाराज जनक महाविद्वान, महाज्ञानी और जितेन्द्रिय थे। उनकी धार्मिकता और उनकी सच्चरित्रता समस्त भूमण्डल में छा रही थी। वे अपने समय के समस्त राजाओं में इतने अधिक तत्त्वज्ञानी थे कि इसके लिए ऋषि-मण्डली ने उनको

राजर्षि की उपाधि से अलङ्कृत किया था। वास्तव में वे धर्म और न्याय दोनों ही बातों के उत्तम ज्ञाता थे। इस बात का दृढ़ प्रमाण इससे अच्छा और क्या हो सकता है कि अनेक ब्राह्मण, ऋषि-मुनि उनसे तत्त्वज्ञान सीखने के लिए और अपनी शङ्काओं का समाधान करने के लिए दूर दूर से उनके पास आया करते थे। एक क्षत्रिय राजा के पास ऋषि-मुनियों का ज्ञान सीखने के लिए आना क्या इस बात को सिद्ध नहीं करता कि उस समय राजर्षि जनक अद्वितीय तत्त्वज्ञानी और महाविद्वान् थे? यही कारण था कि वे सदेह होने पर भी विदेह कहलाये। सारांश यह कि वे देह-परायण न थे, इन्द्रियों के वशीभूत न थे और काम-वासनाओं के जाल में फँसे हुए न थे। वे सर्वथा तृष्णारहित थे। परन्तु ऐसी दशा में भी वे प्रजापालन और राजकार्य की देख-भाल बड़ी उत्तम रीति से करते थे। ऐसे तत्त्वज्ञानी के द्वारा राजकार्य का ऐसी उत्तम रीति से निर्वाह होता देख कर सब लोग चकित होते थे। अनेक देश-देशान्तरों से बहुत से ब्रह्मज्ञानी ऋषि-मुनि राजर्षि जनक की सभा में आ आ कर उनके साथ अनेक गूढ़ विषयों पर वार्तालाप किया करते थे। राजा जनक की विद्वत्ता और सौजन्य को देख कर सब लोग बहुत आनन्दित होते थे।

जिन जगन्मान्या असामान्या नारी का जीवनचरित हम यहाँ लिखते हैं वह नारिकुलभूषण सतीशिरोमणि श्रीसीताजी उन्हीं महाराज जनक की पुत्री थीं। राजर्षि जनक ने अपनी कन्या को ऐसे लाड़-चाव से पाला पोसा कि वे चन्द्रमा की कलाओं की तरह प्रतिदिन बढ़ने लगीं। जिस तरह पतले पतले बादलों में से चन्द्रमा की श्वेत और चारु चमक दिखाई दिया करती है उसी तरह आयु के बढ़ने पर श्रीसीताजी के सुकोमल शरीर में रूप-लावण्य की झलक दिखाई देने लगी। उस समय श्रीसीताजी के रूप-लावण्य को देख कर नागरिक

जन मन में कहते थे कि यह जनक महाराज की पुत्री साधारण कन्या नहीं, किन्तु महातेजस्विनी कोई देवकन्या है। श्रीसीताजी के अलौकिक सौन्दर्य, शान्तस्वभाव, सरलता, कोमलता आदि सद्‌गुणों को देख कर सब लोग यही कहते थे कि यह राजकन्या नहीं, किन्तु महा प्रतापशालिनी देवकन्या है। उनके ऐसा समझने का कारण भी था। वह यह कि जैसे गुण श्रीसीताजी में थे वैसे और किसी प्राकृत कन्या में नहीं दिखाई देते थे।

कुमारी सीताजी का स्वभाव ऐसा कोमल, ऐसा मधुर और ऐसा सर्वप्रिय था कि उसको देख कर यही कहना पड़ता था कि मानो जनक महाराज के राजमहल में स्वर्ग से अमृत की बूँद टपक पड़ी है। राजर्षि जनक की राजसभा में जितने बड़े बड़े तपस्वी, ऋषि, मुनि आते थे उन सब ने सीता जी के पवित्र स्वभाव और अनुपम रूपलावण्य को देख कर उनकी बहुत बड़ाई की। राजर्षि जनक प्रायः प्रतिदिन ऋषि-मुनियों के साथ सभा में बैठ कर परमार्थ-तत्त्व का विचार किया करते थे। हम पहले लिख चुके हैं कि उनकी सभा में प्रायः प्रतिदिन दूर दूर से अनेक तपस्वी आया करते थे। उन वनवासी ऋषि-मुनियों के मुँह से तापस आश्रमों का वर्णन सुनते सुनते सीताजी के कोमल हृदय में उन आश्रमों के दर्शन करने की लालसा उत्पन्न होने लगी। पवित्र ऋषिकन्याओं और ऋषिपत्नियों के साथ वन में निवास और विहार करने की लालसा उनके जी में दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। सीताजी के भीतरी भाव का अनुमान करके दूरदर्शी तपस्वियों ने कहा कि यह कन्या कभी न कभी अपने पति के साथ वन में अवश्य निवास करेगी। वास्तव में सीताजी के स्वभाव का झुकाव बचपन से ही प्राकृत शोभाओं के देखने की ओर अधिक था। उनको जितना आनन्द प्राकृतिक सौन्दर्य देख कर प्राप्त होता

था, उतना और किसी वस्तु को देख कर नहीं होता था। यही कारण था कि सीता देवी चौदह वर्ष तक अपने स्वामी के साथ वन में रहने और वहां के मनोहर प्राकृत दृश्यों को देखने पर भी तृप्त नहीं हुई थीं। प्राकृत सौन्दर्य को देख कर उनके मन में इतना आनन्द होता था कि उसके सामने स्वर्ग का सुख भी किसी गिनती में न था। दुर्गम वनों, भयंकर गुफाओं और डरावनी नदियों को देख कर भी सीताजी के मन में कभी डर नहीं पैदा हुआ। उनको देख कर उनके मन में एक प्रकार का आनन्द ही होता था। पृथिवी के सौन्दर्य को देख कर तो उनको इतना आनन्द लाभ होता था कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कवियों ने तो यहां तक लिखा है कि पृथ्वी के सौन्दर्य को देख कर जितना अनुराग सीताजी के मन में होता था उतना अनुराग और किसी के मन में कभी नहीं देखा गया। कहीं इसी धरानुराग-प्रियता के ही कारण तो सीताजी पृथ्वी माता की प्यारी पुत्री नहीं प्रसिद्ध की गई ?

सीताजी की जीवनसम्बन्धिनी घटनाओं को आद्योपान्त देखने से बहुत से लोग यह कह देते हैं कि विधाता ने सीताजी को घोर दुःख सहन करने के लिए ही पैदा किया था। परन्तु हमारी सम्मति ऐसा कहने वालों के विरुद्ध है। हमारी सम्मति में तो परमात्मा ने सीताजी को फले-फूले वृक्षों के सुन्दर वन में हिरनियों के साथ क्रीड़ा करने और भोले स्वभाववाली तापस-कन्याओं के साथ वन वन में विहार एवं भ्रमण करने के लिए ही पैदा किया था। हमें अनुमान होता है कि यदि विधाता सीताजी को मणि-रत्नादि ऐश्वर्य-पदार्थों से भरे हुए राजमहलों में पैदा न करके हरे भरे और फले-फूले वृक्षोंवाले मृग-पक्षि-सेवित किसी निर्जन वन्य आश्रम में पैदा करता तो इतने से ही सीताजी अपने जीवन को सफल समझ लेतीं। परन्तु परमेश्वर की तो उन्हें

हृदय को कँपानेवाली कठिन अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण करके संसार को यह दिखलाना था कि पातिव्रत धर्म का कैसा अद्भुत माहात्म्य है। धन्य है उन सतीशिरोमणि श्रीसीताजी को कि जिन्होंने अपने धर्म की रक्षा करके स्त्री-जाति मात्र के गौरव को बढ़ाया। इसी धर्म-रक्षा के कारण आज तक सीता देवी का नाम संसार भर की सती-नारियों में सबसे पूज्य गिना जाता है। अस्तु।

बचपन से ही सीताजी के गुणों की चारों ओर प्रशंसा होने लगी। ऋषि-मुनि लोग सीताजी के शुभ लक्षणों को देख कर उनके सौभाग्य की प्रशंसा करने लगे। राजर्षि जनक अपनी प्यारी पुत्री की ऐसी प्रशंसा सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। जिस समय सीताजी ने शैशव अवस्था से किशोरावस्था में पदार्पण किया उस समय उनकी वैसी ही शोभा हुई जैसे अन्धकार और प्रकाश के मिलने पर उषा की होती है। मलयाचल के पवनस्पर्श से जैसे फूल की कलियाँ धीरे धीरे खिलने लगती हैं वैसे ही, पिता की संरक्षकता में, सीताजी का मनोमुकुल भी खिलने और प्रसन्न होने लगा।

जैसे फूल के खिलने से कुछ ही देर पहले उसकी कोमल पँखड़ियों में एक तरह की अनिर्वचनीय शोभा छिपी रहती है वैसे ही सीताजी के भविष्यमाण चरित्र और कोमलता आदि सद्गुण बड़े ही मधुर दिखाई पड़ने लगे। अब राजर्षि जनक को रात दिन यही चिन्ता रहने लगी कि यह पुत्रीरत्न किस पुण्यशाली वर के हाथ में सौंपा जाय।

विधाता की लीला बड़ी विचित्र है। उसका बनाया हुआ संसार सदा समानरूप नहीं रहता। इसमें बेचारे विधाता का भी कुछ अपराध नहीं। ईश्वर की प्रकृति—माया—का स्वभाव ही ऐसा है। वह कभी एक सी रह ही नहीं सकती। जब जड़ प्रकृति की यह दशा है—उसमें इतनी अस्थिरता है—तब चेतन जीवों का तो कहना ही

क्या। उनमें तो जितनी अस्थिरता हो उतनी ही कम है। प्रकृति की इसी परिवर्तनशीलता के कारण ही प्राचीन काल में और वर्तमान काल में आकाश पाताल का सा अन्तर है। अत्यन्त प्राचीन काल की बातों को जाने दीजिए, सौ पचास वर्ष पहले जो समय था वह अब कहीं नाम को भी नहीं दिखाई देता। यही क्यों, किन्तु यह कहना चाहिए कि जो कल था सो आज नहीं और जो आज है वह कल न होगा। इस समय हम और सब बातों को छोड़ कर एक विवाह-संस्कार पर ही कुछ विचार करते हैं।

पाणिग्रहण की जो रीति आज कल इस देश में प्रचलित है वह प्राचीन काल में नहीं थी। प्राचीन काल मे विवाह की प्रथा कुछ और ही थी। उस समय आजकल की तरह माता-पिता अपनी पुत्री को आँख मीच कर नहीं दे डालते थे। वे पहले कन्या की योग्यता, गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार वैसे ही समगुणी वर की खोज करके उसके साथ पुत्री का विवाह करते थे। पहले यह भी रीति देखने में आती है कि वर का देखना भालना और उसको स्वीकार या अस्वीकार करना कन्या की सम्मति के ऊपर ही अवलम्बित रहता था। पहले कन्या जिस वर को अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल समझती थी उसी को स्वीकार करके, अपने माता-पिता के आज्ञानुसार, उसके साथ विवाह कर लेती थी। इसी रीति को स्वयंवर कहते हैं। भारतवर्ष में पहले प्रायः क्षत्रियों में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी।

प्राचीन काल में बल और वीरता का भी विशेष आदर था। यहाँ तक कि कन्यायें भी बलहीन और भीरु पुरुष के साथ विवाह करना अच्छा नहीं समझती थीं। अच्छा क्या नहीं समझती थीं, बल और वीरता के सामने, भरी सभा में, उनका तिरस्कार करती थीं। पहले स्वयंवर के लिए बड़े समारोह के साथ एक सभा होती

थी। उसमें बलवानों और शूर-वीरों की परीक्षा ली जाती थी। जो कोई उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता था उसी को कन्यारत्न उपहार में मिलता था। पहले कन्या का मूल्य बल ही था। आजकल की तरह लोग अपने चेतन सुवर्ण को जड़ सुवर्ण के बदले में यों ही आँख बन्द करके नहीं दे डालते थे। पहले लोग चेतन सुवर्ण के लिए चेतन सुवर्ण की ही खोज करते थे। अस्तु।

राजर्षि जनक ने भी, उस समय की प्रथा के अनुसार, बल-वीर्य्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले वीर पुरुष के साथ ही सीताजी का विवाह करना निश्चित किया। कारण यह कि सीताजी की भी स्वयं इच्छा महाबली और शूरवीर पुरुष के साथ ही विवाह करने की थी।

एक समय प्रजापति दक्ष ने यज्ञ किया। उसमें बड़े बड़े देवगण, ऋषिगण और मुनिगण निमन्त्रित किये गये। यज्ञारम्भ के समय निमन्त्रित सभ्य आने लगे। उस यज्ञ में न जाने क्यों, दक्ष ने त्रिपुरारि शिवजी महाराज के पास निमन्त्रण नहीं भेजा। जब यह समाचार शिवजी ने सुना तब उन्होंने क्रुद्ध होकर दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करना चाहा; इसलिए त्रिशूलधारी शिवजी महाराज क्रोध में भरे हुए यज्ञ-विध्वंस के लिए चले। उस समय उनके पास एक बहुत भारी धनुष था। उसी महाधनुष को हाथ में लेकर शिवजी ने देवताओं से कहा—"देवगण! तुमने भी मेरे बुलाने के लिए दक्ष को सम्मति नहीं दी और यज्ञ में मेरा सम्मान नहीं होने दिया। इसलिए मैं तुमको अभी नष्ट किये डालता हूँ।" शिवजी के मुख से ऐसे उग्र वाक्य निकलते ही देवगण उनकी स्तुति करने लगे। स्तुति को सुन कर शिवजी देवगणों पर प्रसन्न हो गये। उन्होंने प्रसन्न होकर वह महाधनुष देवताओं को दे दिया। उसी महाधनुष को देवताओं ने राजर्षि

जनक के पूर्वपुरुषों के यहां रख दिया था। उसी धनुष की बात को याद करके राजर्षि जनक ने प्रतिज्ञा की कि "जो शूरवीर इस धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ा कर इस पर बाण चला सकेगा उसी वीर-पुङ्गव के साथ में अपनी प्यारी पुत्री सीता का विवाह करूँगा।"

जब सीताजी की अवस्था विवाह-योग्य हुई तब उनके सौन्दर्य्य और गुणों की प्रशंसा सुन सुन कर दूर दूर से बहुत से राजा और राजकुमार, उनके साथ विवाह करने की इच्छा से, जनकपुर में आने लगे। परन्तु सीताजी तो वीर्य्यशुल्का थीं। उनका मूल्य तो बल था। इसलिए राजर्षि जनक ने किसी की प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। सब लोग अपना सा मुँह लेकर उलटे चले गये। जिन लोगों ने राजा की प्रतिज्ञा सुनी वे धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने का उद्योग करने लगे। परन्तु धनुष इतना भारी था कि उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर बाण चलाने की बात तो अलग, उसे कोई उठा भी न सका। जब बड़े बड़े वीरम्मन्य राजा लोग धनुष के उठाने में असमर्थ रहे तब राजा जनक ने अगत्या उनको भी सूखा उत्तर दे दिया और वे भी हताश हो कर चले गये।

इसी घटना के कुछ दिन पीछे सुधन्वा नामक एक महापराक्रमी राजा ने आकर राजर्षि जनक की राजधानी को घेर लिया। उसने राजर्षि जनक के पास एक दूत भेज कर कहलवाया कि तुम बहुत जल्द महादेव के धनुषसहित सीता को हमारे पास भेज दो। राजर्षि जनक ने उसकी प्रार्थना अस्वीकार की। यह बात राजा सुधन्वा को बहुत बुरी लगी। दोनों का मन फट गया। लड़ाई छिड़ गई। उनमें परस्पर बहुत दिन तक घोर युद्ध हुआ। सुधन्वा मारा गया। राजर्षि जनक की जीत हुई। राजर्षि जनक ने सुधन्वा का राज्य अपने अधिकार में करके फिर अपने छोटे भाई महाराज कुशध्वज को दे दिया।

सुधन्वा का पराजय सुन कर अन्यान्य राजगण भी राजर्षि जनक के साथ अनवन रखने लगे। वे अपने जी में सोचने लगे कि राजा जनक ने हम लोगों का तिरस्कार करने के लिए ही ऐसी कठिन प्रतिज्ञा की है। सारांश यह कि इसी बात को सोच कर बहुत से राजा लोग इकट्ठे होकर मिथिलापुरी पर चढ़ आये। उन्होंने भी आ कर यही उद्घोषणा की कि या तो सीता हमको दी जाय और या हमारे साथ युद्ध किया जाय! राजा जनक भी साधारण पुरुष न थे। वे भी महाबली थे। वे अपनी बात के पक्के थे। उन्होंने उन सब राजाओं का तिरस्कार करके उनको कहला भेजा कि बहुत अच्छा, हम तुम्हारे साथ युद्ध करने को तैयार हैं, परन्तु अपने वचनों को मिथ्या करके हम तुमको सीता नहीं दे सकते। सारांश यह कि युद्ध ठन गया। कोई एक वर्ष तक बराबर युद्ध होता रहा। अन्त में राजा लोग हार गये। राजर्षि जनक की जीत हुई। इस घोर युद्ध में विजय प्राप्त करके राजर्षि जनक को आनन्द तो बहुत हुआ परन्तु तब से उनके मन में यही चिन्ता रहने लगी कि हमारी प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी?

कुछ दिन पश्चात् राजर्षि जनक ने एक यज्ञानुष्ठान आरम्भ किया। उस यज्ञोत्सव में आने के लिए उन्होंने नाना देशों से अनेक ऋषि-मुनियों और तपस्वियों को निमन्त्रण भेजा। दूर दूर से अनेक ऋषि-मुनि और विद्वान् ब्राह्मण उस यज्ञोत्सव में आकर सम्मिलित हुए। उस समय यज्ञभूमि की शोभा देखने ही योग्य थी। कहीं वेदपाठी वेदध्वनि कर रहे थे, कहीं होता लोग स्वाहा कह कह कर प्रज्वलित अग्निकुण्ड में सुगंधित चरु की आहुतियां डाल रहे थे। कहीं दर्शक लोग बैठे हुए यज्ञकर्म और महातेजस्वी ऋषि-मुनियों के दर्शन करके अपने जन्म को सफल कर रहे थे। राजर्षि जनक यज्ञानुष्ठान और आगत महाशयों के स्वागत करने में निमग्न हो रहे थे। उसी समय उनके कानों में समाचार

पहुँचा कि अपने शिष्यों के साथ महर्षि विश्वामित्र जी भी यज्ञोत्सव में आकर सम्मिलित हुए हैं । इतना सुनते ही राजर्षि जनक अपने पुरोहित और मन्त्रियों को आगे करके विश्वामित्र जी से मिलने को चले। राजर्षि ने देखते ही महर्षि विश्वामित्र को प्रणाम किया और यथोचित रीति से अर्घ्य-पाद्य देकर बैठने के लिए आसन दिया । दोनों मिल कर परस्पर बड़े आनन्दित हुए । कुशलप्रश्न के पश्चात् महर्षि विश्वामित्र राजा जनक के दिये हुए आसन पर बैठ गये । उनके बैठ जाने पर राजा जनक तथा अन्यान्य लोग भी वहीं बैठ गये ।

महर्षि विश्वामित्र की शिष्यमण्डली के बीच में बैठे हुए दो धनुर्धारी वीर कुमारों को देख कर राजर्षि जनक के मन में बहुत आश्चर्य हुआ । आश्चर्य की बात ही थी । मृगचर्मधारी, फलाहारी एवं वनविहारी तपस्वियों के बीच में प्रासाद-विहारी, शस्त्रास्त्रधारी कुमारों का वीरवेष से सुसज्जित होकर बैठना सर्वथा आश्चर्य की बात है । उनके मुखारविन्द पर कोमलता के अतिरिक्त चात्र तेज जाज्वल्यमान हो रहा था । उनका विक्रम सिंह के समान था । मस्त हाथी के समान उनकी चाल थी और देवताओं के समान उनका दिव्य सौन्दर्य्य झलक रहा था । उनके रूप-लावण्य को देख कर राजर्षि जनक मन में सोचते थे कि मालूम होता है ये दो देव स्वर्ग से पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हुए हैं । तारागणों से भरे हुए आकाश की जैसी शोभा चन्द्र और सूर्य्य से होती है वैसी ही शोभा उस समय उन दोनों कुमारों से ऋषिमण्डली की हो रही थी । उन दोनों कुमारों की अद्भुत सुन्दरता को देख कर राजर्षि जनक ने बड़ी नम्रता से भगवान् विश्वामित्र से पूछा—हे तपोधन ! आपकी शिष्य-मण्डली में जो ये दो वीर-कुमार विराजमान होकर मण्डली की शोभा बढ़ा रहे हैं, ये कौन हैं ? किसके पुत्र हैं ? और कहाँ के निवासी हैं ?

सुकोमलचरण कुमार आपके साथ ऐसे दुर्गम मार्ग में किस कारण भ्रमण कर रहे हैं? कृपा करके वह सब वृत्तान्त मुझ से वर्णन कीजिए? मैं उसके सुनने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा हूँ।

राजर्षि जनक के पूछने पर महर्षि विश्वामित्र ने कहा—"राजन्, ये दोनों राजकुमार अयोध्यानरेश महाराज दशरथ के प्रिय पुत्र हैं। आपने भी सुना होगा कि राजा दशरथ ने वृद्धावस्था में पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा चार पुत्र प्राप्त किये थे। उनकी ज्येष्ठ महारानी श्रीमती कौशल्या देवी के गर्भ से यही घनश्याम राम, दूसरी रानी श्रीमती कैकया देवी के गर्भ से सुशील भरत और तीसरी सुमित्रा देवी के गर्भ से तुल्यरूप यमज लक्ष्मण और शत्रुघ्न, उत्पन्न हुए थे। ये जो राम के समीप गौरवर्ण वाले राजकुमार बैठे हैं यही लक्ष्मण हैं। ये चारों भाई प्रियदर्शन, मधुरभाषी, सुशील, विद्वान् और धनुर्वेद के अत्युत्तम ज्ञाता हैं। इनमें पारस्परिक भ्रातृप्रेम अद्भुत और अनुपम है। इतने पर भी लक्ष्मण रामचन्द्र के साथ और शत्रुघ्न भरत के साथ विशेष स्नेह रखते हैं। ये जैसे ही शान्त और सुशील हैं वैसे ही महाबली और पराक्रमी हैं।

"राजन्, अब तुमको यह तो ज्ञात हो चुका कि ये राजकुमार कौन हैं, कहाँ के हैं और किसके पुत्र हैं। अब इनका मेरे साथ आने का कारण सुनिए। कुछ दिन की बात है कि मैंने एक यज्ञानुष्ठान आरम्भ किया। परन्तु मारीच आदि भयङ्कर राक्षसों ने आकर मेरे यज्ञ का विध्वंस कर दिया। एक बार नहीं, उन्होंने कई बार ऐसा किया। जब उन राक्षसों के आक्रमणों से मेरा सारा आश्रम व्याकुल हो उठा, आश्रमनिवासी समस्त ऋषि-मुनि यज्ञकार्य्य के करने में असमर्थ हो गये तब, मैं अपनी सहायतार्थ इन्हीं रामचन्द्रजी के माँगने के लिए अयोध्या गया। वहाँ जा कर मैंने राक्षसों के मारने के

लिए अयोध्याधिपति महाराज दशरथ से उनके ज्येष्ठ पुत्र को माँगा। उस समय इनकी अवस्था कम होने के कारण महाराज दशरथ इनके देने में आनाकानी करने लगे। परन्तु उनके कुलगुरु श्रीवशिष्ठजी महाराज के समझाने पर उन्होंने रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को मेरे साथ कर दिया। ये रामचन्द्रजी बड़े सुशील, बड़े नम्र और बड़े शान्तस्वभाव हैं। पिता की आज्ञा पाते ही ये अपने छोटे भाई लक्ष्मण को साथ लेकर मेरे साथ हो लिये। मार्ग में नाना प्रकार के वन, उपवन, पर्वत, नदियां और सरोवर इत्यादि अनेक अद्भुत अद्भुत स्थानों को देख कर ये उनके इतिहास जानने के लिए उत्कण्ठित होने लगे। मैंने यथामति बहुत से स्थलों का इतिहास वर्णन करके इनके चित्त को शान्त किया। यद्यपि इसी प्रकार की अनेक ऐतिहासिक कथाओं के कहने सुनने से इनको मार्ग चलने का क्लेश अधिक पीड़ा नहीं देता था तथापि मार्गश्रम और भूख-प्यास की बाधा से ये सुकुमार राजकुमार थक ही गये। जिस तरह नवीन केले के पत्ते कड़ी धूप और लूहों के लगने से झुलस जाते हैं वैसे ही मार्गजनित श्रम और भूख-प्यास की बाधा से ये दोनों भाई भी व्याकुल हो गये। इनको थका देख कर मैंने सरयू के किनारे इनको बला और अतिबला नाम की दो विद्यायें ऐसी पढ़ाईं कि जिनके प्रभाव से अब कभी इन को भूख-प्यास की बाधा नहीं सता सकती और मार्ग चलने का श्रम भी अधिक क्लेशकर नहीं हो सकता।

"फिर हम लोग श्रीभागीरथी गंगा को पार करके एक ऐसे भयकर निर्जन वन में पहुँचे कि जहाँ झिल्लियों की झनकार के अतिरिक्त और कुछ सुनाई ही न देता था। उस वन में तरह तरह के पशु-पक्षी घोर-नाद कर रहे थे। कहीं मत्तहाथी चिंघाड़ रहे थे, कहीं सिंह गर्ज रहे थे और कहीं अन्यान्य भयंकर जीव हृदय के

कँपानेवाले शब्द कर रहे थे। उस वन में किसी मनुष्य का दर्शन नहीं होता था। वहाँ नाना प्रकार के वन्य पशु जहाँ तहाँ भागे भागे फिर रहे थे। वहाँ मनुष्य न होने का एक कारण था। वह यह कि वहाँ एक राक्षसी रहती थी। उसका नाम ताड़का था। वह बड़ी भयङ्कर और बलवाली थी। उसके शरीर में महा बल था। वह मनुष्यों को पकड़ कर खा जाती थी। यही कारण था कि वहाँ उसके डर के मारे कोई मनुष्य नहीं जाने पाता था। यहाँ तक कि वहाँ के भयङ्कर पशु भी उसके डर से काँपते रहते थे। वहाँ पहुँच कर मैंने उस राक्षसी की सारी लीलायें रामचन्द्रजी को कह सुनाईं। साथ ही, मैंने, उस राक्षसी को मारने के लिए भी इनसे निवेदन किया। वहाँ क्या देर थी। मेरे निवेदन को लोकहितकारी समझ कर इन्होंने तुरन्त धनुष-बाण सँभाल लिया। ये धनुष पर टंकार मारने लगे। इन के धनुष की टंकार को सुनते ही वह राक्षसी दौड़ी हुई इनके पास आई। उस राक्षसी के साथ इनका बड़ा लोमहर्षण युद्ध हुआ। अन्त में रामचन्द्रजी ने उसके हृदय में एक ऐसा विषम बाण मारा कि उसके लगते ही वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी और गिरते ही मर गई। उसके मारे जाने पर मुझको बहुत आनन्द हुआ। तब से मेरे मन में निश्चय हो गया कि ये अवश्य राक्षसों को मार कर मेरे यज्ञ की रक्षा करके ऋषि-मुनियों को आनन्द देंगे। उस समय मैंने प्रसन्न होकर इनको बहुत से दिव्यास्त्र प्रदान किये और उनका चलाना और लौटाना भी मैंने अच्छी तरह इनको बता दिया।

"वहाँ से चल कर कुछ दिन पश्चात् हम लोग सिद्धाश्रम में पहुँच गये। वहाँ पहुँचते ही इन दोनों भाइयों ने मुझ से कह दिया कि अब आप निर्भयता से यज्ञानुष्ठान कीजिए। हम लोग आप के यज्ञ की रक्षा करेंगे और उसमें विघ्न करनेवाले राक्षसों को मारेंगे। फिर मैंने

यज्ञ का आरम्भ कर दिया। यज्ञ होने लगा। यज्ञ हो ही रहा था कि इतने में यज्ञधूम को देखते ही राक्षस लोग दूर दूर से आकर अनेक उत्पात करने लगे। मैं तो यज्ञ में दीक्षित था ही, मैंने वहीं बैठे बैठे देखा कि यज्ञभूमि में, ठीक कुण्ड के ऊपर, रुधिर की बूँदों की वर्षा होने लगी। सारांश यह कि यज्ञभूमि को चारों ओर से घेर कर राक्षस लोग यज्ञकुण्ड में अनेक अपवित्र वस्तुयें फेंक कर यज्ञ का विध्वंस करने लगे। यह देख कर रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजो ने धनुष हाथ में लेकर राक्षसों के ऊपर बाणों की वर्षा आरम्भ की। दोनों भाइयों ने राक्षसों के साथ बहुत देर तक युद्ध किया। अन्त में रामचन्द्रजी ने अपने भीम पराक्रम से राक्षसों को मार भगाया। लक्ष्मणजी ने भी अपने असीम साहस से राक्षसों के साथ ऐसा विकट युद्ध किया कि राक्षसों के पाँव उखड़ गये। रामचन्द्रजी ने मारीच नामक राक्षस के शरीर मे एक बाण ऐसा मारा कि वह उस बाण के लगने से बहुत दूर जाकर गिरा। उन राक्षसों में सुबाहु नामक एक राक्षस महाबली और भीमपराक्रम था। वह भी रामचन्द्रजी के हाथ से वहीं मारा गया। उसके मरते ही बचे खुचे राक्षस जहाँ तहाँ भाग गये। फिर मैंने अपना यज्ञ निर्विघ्न समाप्त किया। इनकी वीरता पर प्रसन्न होकर मैंने इनको अनेक आशीर्वाद दिये। सिद्धाश्रमनिवासी समस्त ऋषि-मुनि इनके अपूर्व पराक्रम को देख कर धन्य धन्य कहने लगे।

"राजन्, जब मेरा यज्ञ सानन्द सम्पूर्ण हो गया तब मैंने आपके यहाँ एक महायज्ञ होने का आनन्द-समाचार सुना। सुनते ही मेरे मन में उसके देखने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। उसी समय मुझको आप के यहाँ रक्खे हुए उस महाधनुष का स्मरण आगया। उस धनुष के आने की सारी कथा मैंने इन दोनों भाइयों को सुनादी। उसको सुन कर दोनों भाई धनुष देखने की प्रबल इच्छा प्रकट करने लगे। इसलिए

मैं इनको भी अपने साथ यहाँ ले आया हूँ। मार्ग में हम लोगों ने एक रात्रि भर विशाला नामक नगरी में निवास किया था और गौतम मुनिजी के पवित्र आश्रम का भी दर्शन किया था। ये दोनों भाई उस धनुष को देखना चाहते हैं। इसलिए, यदि, आप इन्हें वह महाधनुष दिखाने की कृपा करेंगे तो मुझको भी अपार आनन्द होगा।"

महर्षि विश्वामित्रजी के मुँह से रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी की ऐसी प्रशंसा सुन कर राजा जनक को बहुत आनन्द हुआ। उन्होंने भी दोनों भाइयों की बड़ी प्रशंसा की और बड़े प्रेम और आदर से सबका आतिथ्य किया। महर्षि विश्वामित्र का गौरव सर्वत्र छाया हुआ था। भला राजर्षि जनक जैसे महाज्ञानी उनके आदेश को कब टाल सकते थे। उन्होंने उनके आज्ञानुसार अगले दिन उस धनुष को यज्ञ-भूमि में लाने के लिए अपने भृत्यों को आज्ञा दे दी। वह धनुष बहुत भारी था। बहुत से सेवक मिल कर उसे यज्ञभूमि में ले आये। जब धनुष आगया तब विश्वामित्रजी ने रामचन्द्रजी को सम्बोधन करके कहा—"प्रिय वत्स, लो, यह धनुष आगया। अब तुम इसे अच्छी तरह देख लो।" महर्षि की आज्ञा पाते ही श्रीरामचन्द्रजी उठे और जिस सन्दूक में वह धनुष रक्खा था उसके पास गये। धनुष के पास जाकर श्रीरामचन्द्रजी ने धनुष की ओर देख कर कहा—"क्या मैं इस धनुष को छूकर यों ही अलग हो जाऊँ या इसको उठा कर इस पर बाण चढ़ाऊँ?" यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी ने यह बात बहुत धीरे से कही थी तथापि महर्षि विश्वामित्र ने और राजर्षि जनक ने इसे सुन लिया। उन्होंने प्रसन्नता से आज्ञा देदी कि हाँ, आप इस धनुष को अवश्य उठाइए और उठा कर इस पर बाण चढ़ाइए। उनकी आज्ञा पाकर श्रीरामचन्द्रजी ने सबके सामने, सबके देखते ही देखते, उस धनुष को उठा लिया। जिस धनुष को उठाने के लिए सैकड़ों बड़े बड़े योद्धा जूझ

कर हार गये और जो किसी से हिला तक नहीं, उसी महाधनुष को श्रीरामचन्द्रजी ने बड़ी सुगमता से उठा लिया। उसे उठा कर उन्होंने उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ाई और खींच कर वाण चढ़ाना ही चाहा था कि इतने में वह धनुष दो टुकड़े होकर धरती पर गिर पड़ा। धनुष भारी तो था ही, उसके टूटने का ऐसा घोर नाद हुआ कि वहाँ जितने मनुष्य बैठे थे वे सब अचेत हो गये।

धनुष क्या टूटा, राजर्षि जनक का चिन्तारूपी भारी जाल ही कट गया। धनुष के टूटते ही उनकी सारी चिन्तायें न जाने कहाँ विलीन हो गईं। श्रीरामचन्द्रजी के हाथ से धनुष का टूटना देख कर राजा जनक को आश्चर्य भी हुआ और हर्ष भी। जैसे अग्नि की छोटी सी चिनगारी में सारे देश भर को भस्म कर देने की शक्ति होती है वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी के सुकोमल शरीर में अपार बल-विक्रम देख कर राजर्षि जनक उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। अपनी प्रतिज्ञा को सच्ची और पूरी हुई जान कर राजा जनक को अपार हर्ष हुआ। जब यह मङ्गल-समाचार सारी मिथिला में फैल गया तब सब लोग आनन्द में मग्न हो गये। घर घर आनन्द-मङ्गल होने लगा, बाजे बजने लगे और मंगल गीतों का गान होने लगा। राजर्षि जनक के राजमहल में आनन्द भर गया और सीताजी के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। यद्यपि जनकपुर में पहले से भी स्वच्छता और पवित्रता रहती थी, तथापि श्रीसीताजी के विवाहोत्सव के उपलक्ष में सब लोग और भी उत्तमता से अपने अपने स्थानों को सजाने लगे। समस्त राजपथ स्वच्छ करा कर सजाया जाने लगा।

फिर राजर्षि जनक ने विश्वामित्रजी की आज्ञा लेकर यह शुभ-संवाद सुनाने के लिए चतुर दूतों को शीघ्रगामी रथ पर चढ़ा कर अयोध्या भेजा। दूतों ने शीघ्र अयोध्यापुरी पहुँच कर धनुष का

सीतास्वयंवर ।

टूटना और दोनों राजकुमारों का कुशल समाचार राजा दशरथ से कह सुनाया। अपने पुत्रों का कुशल-समाचार सुन कर राजा दशरथ को अपार हर्ष हुआ। वे राजा जनक के निमन्त्रणानुसार, रामचन्द्रजी के विवाह के लिए, बरात सजा कर, जनकपुर को चल दिये। बरात बड़ी धूम धाम से जनकपुर जा पहुँची।

विवाह के समय सीताजी की आयु कितनी थी इसका ठीक ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके विषय में आदि-कवि श्रीवाल्मीकि मुनि ने जो कुछ लिखा है उसी का भाव समझ कर कुछ अनुमान किया जा सकता है।

श्रीरामचन्द्रजी के साथ अपना विवाह होने का समय समीप ही आया जान कर सीताजी के मन में एक अपूर्व भाव उठ रहा था। वे श्रीरामचन्द्रजी के अश्रुतपूर्व पराक्रम और अनुपम रूप-लावण्य की बात सुन सुन कर मनही मन फूल रही थीं। सीताजी के मन में श्रीराम-चन्द्रजी के प्रति श्रद्धा और पूज्य भाव की वृद्धि होने लगी। जिस तरह धनी मनुष्य को विशेष धन मिल जाने पर अत्यन्त हर्ष हुआ करता है उसी तरह भविष्यमाण स्वामी के पौरुष, रूप-लावण्य और पराक्रम की बात सुन कर सीताजी अपने मन में अपने को बड़ी सौभाग्यवती मानने लगीं। यद्यपि अभी तक सीताजी का विवाह नहीं हुआ था तथापि वे शिक्षिता थीं, पढ़ी लिखी थीं और धर्म के मर्म को अच्छी तरह समझती थीं। कारण यह कि उनके माता-पिता ने उनका अन्तःकरण सुशिक्षा से भरपूर कर रक्खा था। इसी लिए वे धनुष के टूटते ही श्रीरामचन्द्रजी को देवतुल्य मानने लगीं। वास्तव में सीताजी पातिव्रत धर्म के माहात्म्य को जानती थीं। इसी से उनका आज तक इतना महत्त्व माना जाता है। इसी कारण उनका नाम आज तक भी प्रातःस्मरणीय समझा जाता है।

जिस तरह सूर्य्य अपनी ज्योति चन्द्रमा को प्रदान करके उसको प्रकाशित करता है उसी तरह राजर्षि जनक ने पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के हाथ में अपनी प्राणतुल्य पुत्री सीताजी को सौंपने का निश्चय कर लिया। विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। इस शुभ समाचार को पाकर राजा दशरथ बरात के साथ मिथिला में आ पहुँचे। राजर्षि जनक ने महाराज दशरथ और उनकी बरात के आतिथ्य का बहुत ही उत्तम प्रबन्ध कर रक्खा था। सबका यथायोग्य सत्कार किया गया। राजर्षि जनक की, सीताजी से छोटी, एक और पुत्री थी। उसका नाम उर्मिला था। महाराज जनक ने अपनी छोटी पुत्री उर्मिला का विवाह श्रीरामचन्द्रजी के छोटे भाई लक्ष्मणजी के साथ करना निश्चित कर दिया। राजर्षि जनक के छोटे भाई कुशध्वजजी के भी दो पुत्रियाँ थीं। वे भी बड़ी रूपवती, गुणवती और विद्यावती थीं। महर्षि वशिष्ठ और विश्वामित्रजी ने, राजा जनक से सम्मति करके, उन पुत्रियों का विवाह भरतजी और शत्रुघ्नजी के साथ करने का दृढ़ निश्चय कर दिया। अब चारों राजकुमारियों का विवाह चारों राजकुमारों के साथ होने के कारण सारे नगर में आनन्दोल्लास छा गया।

विवाहकाल उपस्थित होने पर राजकुमारगण सुन्दर वेश-भूषण से सुसज्जित होकर वैवाहिक मण्डप में पहुँच गये। राजा दशरथ भी वसिष्ठादि ऋषि-मुनियों को साथ लेकर वहाँ आ पहुँचे। चारों राजपुत्रियाँ भी अपने पिताओं के साथ सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके वहाँ आ उपस्थित हुईं। विवाह-संस्कार के लिए वहाँ पहले वैदिक रीति के अनुसार वेदी का निर्माण किया गया। तदुपरान्त ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करके अग्नि का स्थापन किया गया। सुगन्धित द्रव्यों से हवन हो जाने के पश्चात् राजर्षि जनक ने लज्जावनत-

मुखी सीताजी को रामचन्द्रजी के सामने बैठा कर, अग्नि को साची करके कहा—"राम, यही मेरी पुत्री सीता है। अब यह तुम्हारी सहधर्मिणी हुई। तुम अपने हाथ से इसका हाथ पकड़ो। तुम्हारा कल्याण हो। परमात्मा करें, यह सच्ची पतिव्रता हो और छाया की तरह सदा तुम्हारे साथ रहे।" (वा० अ० १३) इतना कह कर राजर्षि ने मन्त्र से पवित्र किया हुआ जल रामचन्द्रजी के हाथ पर छोड़ दिया। रामचन्द्रजी ने सहर्ष सीताजी का पाणिग्रहण कर लिया। मण्डप में बैठे हुए सब लोग साधुवाद करने लगे। चारों ओर आनन्दमय करतलध्वनि और पुष्पों की वर्षा होने लगी। आनन्दमय वाद्यध्वनि से सारा मण्डप गूँज उठा। होमधूम की सुगंधि से सारी मिथिलापुरी महँक उठी।

सीताजी का पाणिग्रहण होने के पश्चात् महाराज जनक ने शेष तीनों पुत्रियों का भी पाणिग्रहण विधिपूर्वक करा दिया। उर्मिला का लक्ष्मणजी के साथ, माण्डवी का भरतजी के साथ और श्रुतिकीर्ति का शत्रुघ्नजी के साथ विवाह हो गया। चारों ओर बाजे बजने लगे। उस समय आनन्दध्वनि का इतना अधिक कोलाहल हो रहा था कि कान पड़ी बात भी नहीं सुन पड़ती थी। राजा दशरथ चारों पुत्रों और पुत्रवधुओं को साथ लेकर जनवासे में चले आये। वहाँ आकर वे नाना प्रकार के मङ्गल-कार्य्य करने लगे।

जिस समय सीताजी रामचन्द्रजी के साथ जनवासे में पहुँचीं उस समय वे अपने स्वामी का प्रथम दर्शन करके मन में अत्यन्त प्रसन्न हुईं। स्वामी के मुखचन्द्र को देखते ही उनका मुखकुमुद प्रफुल्लित हो उठा। रामचन्द्रजी का दर्शन करके सीताजी को ऐसा मालूम हुआ कि ये नव यौवनावस्था में अभी पदार्पण कर रहे हैं। रामचन्द्रजी के शरीर से दिव्य सौन्दर्य का रस टपका पड़ता था।

उनका प्रत्येक अङ्ग-उपाङ्ग सुदृढ़, सुरूप और अनुपमशक्ति का आधार-स्तम्भ था। उनकी सुन्दर भ्रुकुटियाँ मानसिक तेज और सच्चरित्रता का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रही थीं। उनके कमल-नेत्र से प्रतिभा प्रदीप्त हो रही थी और उनके मुख पर एक विशेष प्रकार की ज्योति चमक रही थी। उनकी सौम्य मूर्ति और प्रसन्न वदन को देखते ही दर्शक का चित्त आनन्द में परिप्लुत हो जाता था। अपवित्र और असाधु भाव रखने वाले कुजनों के मन में भी उनके दर्शन करने से साधुता का भाव उत्पन्न हो जाता था। उनके बार बार दर्शन करने से भी मन तृप्त न होता था। उनका दर्शन करके मन यही चाहता था कि देवतारूप से उनका सदा पूजन किया जाय। अस्तु, सीताजी ने देवरूप पति के दर्शन करके अपने आपको उनके चरणकमलों में समर्पित कर दिया।

यह तो हुई सीताजी की बात। अब रामचन्द्रजी के भाव को देखिए। नवोढ़ा सीता को एक ही बार, एक ही दृष्टि से, देख कर रामचन्द्रजी के चित्त में जो भाव उत्पन्न हुआ, उनके जी में जो तरङ्गें उठीं, उनको हम यहाँ लिख नहीं सकते। लिख क्या नहीं सकते, वे बातें लिखी ही नहीं जा सकतीं। कारण यह कि उस समय उनके मन में जो भाव उत्पन्न हुआ था वह अनुपम था, अभूतपूर्व था। सीताजी की पवित्र और सौम्य मूर्ति रामचन्द्रजी के हृदयपट पर दृढ़ता के साथ अङ्कित हो गई। रामचन्द्रजी ने उस मूर्ति को देवता के भाव से हृदय में धारण कर लिया। उन्होंने सीताजी की मूर्ति को एक बार हृदय में धारण करके फिर उसे कभी नहीं हटाया।

विवाह हो जाने के दूसरे दिन बरात के विदा होने की तैयारियाँ होने लगीं। महाराज जनक ने अपनी पुत्रियों और जामाताओं को बहुत से पदार्थ प्रदान किये। असंख्य गायें, घोड़े, हाथी, मोती, मूँगे, हीरे, सोना, चाँदी आदि नाना प्रकार के रत्न, उत्तमोत्तम रेशमी

वस्त्र, रथ और सेवक आदि अनेक वस्तुएँ विदा मे दी गईं। चलते समय राजर्षि जनक कुछ दूर तक उनके साथ गये। जिस समय राजर्षि जनक अपनी प्यारी पुत्री को विदा करके लौटने को हुए उस समय उनके नेत्रों से आंसुओं की धारा बह चली, कण्ठ रुक गया और स्नेह से हृदय उमड़ने लगा। अन्त मे धैर्य्य के अतिरिक्त दूसरा अवलम्ब ही क्या था। शोक के वेग को रोक कर राजर्षि जनक अपने महल को लौट आये। जिस तरह चन्द्रमा की चांदनी के विना अमावस्या की रात्रि के समय पृथ्वी पर अन्धकार ही अन्धकार छा जाता है उसी तरह सीताजी के चले जाने से राजा जनक का राजमहल ही नहीं किन्तु सारी मिथिला नगरी शोभाहीन और आनन्दरहित हो गई। परन्तु राजर्षि जनक महाज्ञानी थे, वे स्नेह और मोह के वेग को रोक कर पूर्ववत् निर्लिप्त होकर राज-काज करने लगे।

उधर महाराज दशरथ पुत्र और पुत्रवधुओं को साथ लेकर आनन्दपूर्वक अयोध्या को चल दिये। परन्तु वे थोड़ी ही दूर चले होंगे कि उनका सारा आनन्द मिट्टी में मिलने लगा। कारण यह कि रामचन्द्रजी के हाथ से धनुष तोड़ने का समाचार पाकर भीमकर्मा परशुरामजी बहुत क्रुद्ध हो गये थे। वे क्रोध मे भर कर आये और आते ही उन्होंने मार्ग में रामचन्द्रजी को रोक लिया। उस समय परशुरामजी ने रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के साथ बहुत प्रश्नोत्तर किये। परन्तु अन्त में महाबली रामचन्द्रजी के पराक्रम के सामने परशुधारी रामजी की कुछ न चली। वे परास्त हो गये। राजा दशरथ आनन्दपूर्वक चलने लगे। जब इनके आने का आनन्द-समाचार अयोध्या में पहुँचा तब अयोध्या के समस्त स्त्री-पुरुष आनन्द में मग्न हो गये। राजा दशरथ के राजमहलों के आनन्द का क्या पूछना था। भला जहां सीताजी जैसी देवी का पदार्पण होनेवाला हो वहां किस

प्रकार की शोभा की कमी हो सकती है? जिस समय रनिवास में रानियों ने पुत्र और पुत्रवधुओं का चन्द्र-समान मुख का दर्शन किया उस समय उनको अपार हर्ष हुआ। जब से सीताजी का अयोध्या में पदार्पण हुआ तभी से वहाँ नाना प्रकार के आनन्द-मङ्गल होने लगे।

दूसरा काण्ड

रामचन्द्रजी के राजतिलक की तैयारी, केकयी की कुटिलता, राम-वनवास और भरतजी का सच्चा संन्यास

अहा ! यह पर्वत कैसा रमणीय है ! यह छोटी सी नदी इसी पर्वत से निकली है। कैसी सुन्दर नदी है ! इसका जल कैसा श्वेत, कैसा निर्मल और कैसा पवित्र है ! इसका जल पत्थरों में टकराता हुआ कहीं कहीं फेन उगलता चला जाता है; कहीं कहीं छोटे छोटे भँवर पैदा करता चला जाता है। इस नदी की बड़ी विचित्र गति है। यह नदी एक चञ्चलस्वभाववाली अभिमानिनी बालिका की तरह प्रतीत होती है। यह नदी कहीं कहीं हरी हरी दूब के सुन्दर खेत में जाकर गम्भीर भाव को धारण कर लेती है और कहीं कहीं गहन कानन में होती हुई अपने दोनों किनारों पर लगे हुए सुगन्धित फूलवाले वृक्षों से टकराती एवं पुष्पों के पराग को ग्रहण करती हुई कलकल शब्द करके मानो नाचती चली जाती है।

अहा ! यह पर्वतकुमारी छोटी सी नदी कैसी मनोहारिणी है ! कैसी सुहावनी है ! यह देखिए, देखते ही देखते इसका समस्त निर्मल जल इस महानद में मिल गया। नद ने बड़ी प्रसन्नता से नदी के प्रबल वेग को अपने हृदय में धारण कर लिया। परन्तु, जिस समय इस महानद ने नदी के वेग को धारण किया उस समय, उसका भी हृदय क्षोभित हो गया। वेगवती नदी को धारण करने के कारण उस का भी हृदय काँपने लगा। दोनों का जल मिल कर बढ़ अवश्य गया, परन्तु न जाने छोटी सी नदी का अस्तित्व उस महानद के विशाल

वक्षःस्थल में कहाँ समा गया! छोटी सी नदी के नवीन वेग को धारण करके, अधिक बलवान् होकर, उस महानद ने कितने ही खेतों को हरा भरा कर दिया, और कितने ही हरे भरे खेतों को जल से भर दिया। इस तरह कितने ही गाँवों और नगरों की सेवा करता हुआ वह महानद अपने मार्ग में प्रबल वेग से बहने लगा। अन्त में वह बहता बहता महामहिम अनन्त सागर की गोद में जा पहुँचा। उसने अपने अस्तित्व को, अपने जीवन को, महासागर के जीवन में मिला कर मानो अपना जीवन सफल कर लिया।

अहा! वह नदी और नद का सङ्गम भी कैसा मनोहर और शिक्षाप्रद है! निर्मलस्वभाववाली बालिका अपने जीवन की प्रभातवेला (बाल्यावस्था) में फूल चुन चुन कर, पक्षियों की बोली मे बोली मिला मिला कर और हिरनियों के बच्चों की तरह इधर उधर कूद फाँद कर, कभी चञ्चलता और कभी गम्भीरता को धारण किया करती है। इस अनन्त संसार में परमेश्वर ने उस बालिका के प्रारब्ध में जो जो लिख दिया है उसे भुगवाने के लिए उसका जीवन दिन दिन बढ़ता जाता है। जब समय आता है तब वही बालिका अपने अनुरूप पति के हाथ में अपने जीवन को सौंप देती है। वह बालिका-रूपिणी नदी अपनी स्वतन्त्रता को, अपने सर्वस्व को, पतिरूप नद में विलीन कर देती है। वह अपने जीवन का एक मात्र आधार अपने पति को ही मानने में धन्य समझती है। फिर वे दोनों मिल कर उत्साह के साथ संसारधर्म का पालन करके अपने जीवन को सार्थक बना लेते हैं, तदनन्तर वे दोनों दम्पती अपने अपने कर्तव्य का पालन करके जगदीश्वर भगवान् के नियम-सागर में निमज्जित होकर तल्लीन हो जाते हैं।

बस, ठीक यही दशा हमारी पूजनीया सीतादेवी और पूज्यपाद रामचन्द्रजी की हुई। सीतादेवी ने भी अपने पवित्र जीवन का स्रोत

शुद्ध-हृदय रामचन्द्रजी के जीवनस्रोत में मिला दिया। उनके जीवन की तरङ्गें रामचन्द्रजी के जीवन की तरङ्गों से मिल कर दोनों का जीवनप्रवाह समभाव हो गया। जिधर स्वामी का जीवनप्रवाह प्रवाहित होता था, सीतादेवी भी अपने जीवनप्रवाह को उधर ही प्रवाहित कर देती थीं। अब सीतादेवी का स्वातन्त्र्य रामचन्द्रजी के स्वातन्त्र्य में मिल गया। जब सीतादेवी का मन स्वामी के मन के साथ और प्राण प्राण के साथ मिल गये तब भला कहीं उनका विछोह हो सकता है? कभी नहीं। ऐसे अद्‌भुत सङ्गम को कोई पृथक् नहीं कर सकता। गङ्गा-यमुना के सङ्गम होने पर क्या कोई गङ्गाजल से यमुनाजल को अलग कर सकता है? कभी नहीं। पवित्र जलवाली इन दोनों नदियों का सङ्गम जैसा पवित्र है वैसा ही, किम्बहुना उससे भी अधिक, मनुष्यजीवन का सङ्गम पवित्र होता है! इसी पवित्र सङ्गम का नाम विवाह है। विवाह में और होता ही क्या है? दो व्यक्तियों का जीवनप्रवाह एकत्र प्रवाहित होकर बहने लगता है, बस। जो मनुष्य इस पवित्र सङ्गम के, पवित्र पुण्यतीर्थ के, माहात्म्य को समझता है, उसके गौरव को पहचानता है, वह कभी स्वप्न में भी उस सङ्गम का विच्छेद नहीं देखता।

स्वामी की जीवन-नदी बहती बहती चाहे मरुभूमि के रेतीले मैदान में जाकर शुष्क हो जाय और चाहे नवीन उत्साह से भरी हुई नाना देशों और नाना नगरों में अपनी छटा दिखलाती हुई महासागर की ओर दौड़ती जावे, पर सहधर्मिणी उसका साथ कभी नहीं छोड़ सकती। वह सदा उसकी सहचारिणी ही रहती है। पति चाहे सुख में रहे या दुःख में, पत्नी सदा उसकी अनुगामिनी ही रहती है। स्वामी चाहे दयाशील हो चाहे निर्दयी, पर पत्नी सदा उसको देवता ही मानती है। स्वामी चाहे कभी स्त्री के प्रति अपना कर्तव्य-

पालन न भी करे, पर क्या कभी किसी ने पत्नी को भी अपने कर्तव्य-पालन में कमी करते देखा है? पतिव्रता स्त्री स्वामी से कभी बदला नहीं चाहती। वह निःस्वार्थ और निष्काम होकर, मनसा, वाचा, कर्मणा, स्वामी की सेवा किया करती है। पतिपरायणता ही उसके जीवन का साफल्य है और वही उसका धर्म है। उसी धर्म के पालन करने में वह अपने जीवन को अर्पण कर देती है। उसके कर्मानुसार परमेश्वर उसको जिस अवस्था में रख देता है वह उसी अवस्था में रह कर संसार में कीर्ति को प्राप्त कर लेती है। हमारी सीतादेवी भी स्वामी की सहधर्मिणी हो गईं। अब यही देखना है कि वे अपने पातिव्रत धर्म को कैसा निबाहती हैं।

जिस तरह फूल के खिलने पर उसमें धीरे धीरे सुगन्धि का सञ्चार होने लगता है उसी तरह विवाह हो जाने पर सीतादेवी के खिलते हुए हृदय-पुष्प में एक प्रकार की दिव्य सुगन्धि का अनुभव होने लगा। उस दिव्य सुगन्धि से सीतादेवी के प्राण आनन्द में हार्षों उछलने लगे। इनके जीवन में ऐसे अपूर्व आनन्द के अनुभव करने का यह पहला ही अवसर था। इससे पहले उन्होंने कभी ऐसा भाव अनुभव नहीं किया था। यह घटना उनके लिए सर्वथा नई बात थी। उस अभूतपूर्व भाव के छिपाने के लिए सीतादेवी ने बहुत कुछ प्रयत्न किये, पर वे कृतकार्य्य न हुईं; उनके छिपाये वह भाव न छिप सका। उस समय सीतादेवी के मन में इतनी प्रफुल्लता थी, इतना आनन्द था और इतना उत्साह था कि जिनके कारण उनका वह भाव प्रकट हो ही गया। जब जब उनके मन में रामचन्द्रजी के विषय का ध्यान आता था तब तब वे सब काम छोड़ कर चौकन्नी सी हो जाती थीं। यही कारण था कि वे अपने भीतरी भाव को छिपा न सकीं। यही नहीं, किन्तु जब कोई सखी रामचन्द्रजी के विषय की चर्चा करती

तभी उस चर्चा को वे बड़े ध्यान से सुनतीं और सुनते सुनते तृप्त नहीं होती थीं; इस कारण भी उनका भाव प्रकट हो ही गया। जिस समय सीतादेवी रामचन्द्रजी के साथ वार्तालाप करने लगीं उस समय बातें करतीं करतीं वे एकदम नीचे को देखने लगीं, और कभी कभी ऐसी आनन्दमय और मद-भरी दृष्टि से देख कर उनके मुख को प्रकाशित करती थीं कि जिससे उनका वह भाव प्रकाशित हो गया। इनके अतिरिक्त और भी अनेक बातें ऐसी थीं जिनसे वे अपने उस नवीन भाव को छिपाने में समर्थ न हो सकीं।

यौवनावस्था में प्रवेश करते ही सीतादेवी के निर्मल हृदयसागर मे प्रेम की ऊँची ऊँची लहरें उठने लगीं। उन प्रेमतरङ्गों के उठते ही सीतादेवी उनका तात्पर्य समझ गईं। उस तात्पर्य को और कोई दूसरा समझ ही क्या सकता था। और के समझने की वह बात थी भी नहीं। सीतादेवी प्रेम में ऐसी मग्न हुईं कि वे तब से अपने को भूल गईं और पतिपरायण होकर, स्वामी के लिए ही, जीवन धारण करने लगीं।

यह बात हम पहले लिख चुके हैं कि सीतादेवी के एक बार दर्शन करते ही श्रीरामचन्द्रजी के स्वच्छ हृदयपट पर उनकी सौम्य मूर्ति खचित हो गई। रामचन्द्रजी उस सौम्य मूर्ति को पुष्पमय हृदय-मन्दिर में स्थापित करके श्रद्धा और प्रीति से उसका ध्यान करने लगे। रामचन्द्रजी को ज्यों ज्यों सीतादेवी के अनुपम चरित्रों का परिचय मिलने लगा त्यों त्यों उनके मन में सीताजी के प्रति सौगुना प्रेम बढ़ने लगा। कारण यह कि सीतादेवी के चरित्र ही ऐसे पवित्र और मनोमोहक थे कि जिनके कारण रामचन्द्रजी का हृदय द्रवीभूत हो गया। रामचन्द्रजी ने देवकन्या के समान सुन्दरी सीतादेवी को अपने हृदय का आराध्य देवता बना लिया। वे नवयौवना कृशाङ्गी सीतादेवी मे दिन दिन अपना

अनुराग बढाने लगे। जब वे सीतादेवी का स्मरण करते तभी उनके हृदय में एक प्रकार का अनिर्वचनीय आनन्द अनुभव होने लगता था। अपने हृदय में सीतादेवी का स्थान समझ कर वे उसको बहुत ही स्वच्छ और पवित्र रखने लगे।

रामचन्द्रजी के स्वभाव का क्या पूछना है। उनके से स्वभाव वाला तो कोई प्राणी संसार में कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं और न होने की आशा। उनके समान तो कभी होंगे तो वही भले ही हों, दूसरा कोई नहीं हो सकता। उनमें परोपकार की मात्रा फूट फूट कर भरी हुई थी। बचपन से ही वे दूसरों के हितकर काम करने में सयत्न रहा करते थे। दूसरों को सुखी देख कर वे सुखी होते थे और दुखी देख कर उनका हृदय दयार्द्र हो जाता था। उनका सा सौशील्य, सौजन्य और सौभ्रात्र कहीं देखने में नहीं आता। उनको बचपन से ही ऐसी शिक्षा दी गई थी कि जिससे दूसरों को प्रेमपाश में फांस कर अपनी मुट्ठी में कर लेना उनके लिए बायें हाथ का खेल था। वे प्रजामात्र को स्नेह की दृष्टि से देखा करते थे। जब कभी प्रजा को सहायता की आवश्यकता होती तभी वे जी-जान से उसकी सहायता करने पर उद्यत हो जाते थे। वे मितभाषी होकर भी मिष्टभाषी थे, प्रियवादी होकर भी सत्यवादी थे। यही कारण था कि प्रजा उनको प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। विवाह होजाने के पश्चात् तो उन्होंने परोपकार व्रत की मात्रा और भी बढा दी। तब से वे और भी अधिक लोकप्रिय कामों के करने में लग गये। लोकहितकारी कामों के करने में उनको जितना आनन्द मिलता था उतना और किसी काम में नहीं। विविध शास्त्र के परिशीलन से उनका ज्ञान और भी वृद्धिंगत हो गया। धनुर्विद्या के अभ्यास से उनका बल, तेज और पराक्रम और भी अधिक प्रकाशित हो गया। रामचन्द्रजी माता, पिता और गुरु

के भी अनन्य भक्त थे। उनकी सेवा-टहल करने में उन्होंने कभी त्रुटि नहीं की। माता, पिता और गुरु को वे अपने लिए पूज्य समझते थे। उनके लिए वही त्रिदेव थे। यही नहीं कि केवल माता, पिता और गुरु की सेवा करना वे अपना प्रधान कर्तव्य समझते थे, किन्तु विद्वान् ब्राह्मणों और संन्यासियों का भी वे यथोचित सत्कार करते थे। दोनों काल सन्ध्योपासन करने के अतिरिक्त वे अग्निहोत्र भी विधिपूर्वक करते थे। अतिथिसेवा भी उनका एक मुख्य काम था। उन्होंने कभी किसी अतिथि को विमुख नहीं जाने दिया, सबका यथायोग्य सत्कार किया। मित्रों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए—इस बात को भी वे उत्तम रीति से जानते थे। इनके अतिरिक्त वे सीतादेवी को सन्तुष्ट और प्रसन्न रखना भी अपना कर्तव्य समझते थे। वे समझते थे कि सीता की विद्यमानता ही हमारे शुभकर्मों का मूल कारण है। तात्पर्य यह कि सीतादेवी का प्रसन्न रहना ही वे अपने लिए एक बहुत बड़ी साधना समझते थे। कारण यह कि सीतादेवी को प्यार करना, उनको प्रसन्न रखना, सुगम काम नहीं, बड़ा कठिन काम था। उनके प्रसन्न करने के लिए मन में शुद्ध भावना और उच्च संकल्प होने चाहिएँ। मलिन और कुवासनावासित अन्तःकरण रखने वाला उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता। रामचन्द्रजी ने सीतादेवी के साथ ऐसा प्रेम बढ़ाया, अपने प्रेमसूत्र का अपनी प्रियतमा के प्रेमसूत्र के साथ ऐसा दृढ़ योग लगाया और पारस्परिक अनुराग को ऐसा पक्का कर लिया कि उनको निश्चय हो गया कि अब इस प्रेमबन्धन को कभी कोई शिथिल नहीं कर सकता।

रामचन्द्रजी राजनीति के जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ थे। वे जैसे ही नीतिज्ञ थे वैसे ही धर्मज्ञ भी थे। धर्म और नीति में वे भेद नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में धर्म और नीति एक ही बात थी। जो धर्म

वही नीति और जो नीति वही धर्म । परन्तु एक बात है, वे कूटनीति के कभी पक्षपाती नहीं हुए । वे सदा सत्य और न्याय के ही पक्षपाती रहे । विवाह हो जाने के पश्चात् रामचन्द्रजी के निवास के लिए एक स्थान अलग नियत हो गया था । वे प्रतिदिन राजकार्य में अपने पिता को सहायता दिया करते थे । फिर माताओं की सेवा-शुश्रूषा करके, समय मिलने पर, अपने स्थान में आते थे । वहाँ आकर वे सीतादेवी को प्रेमभरी दृष्टि से देख कर उनका मनोरञ्जन किया करते थे, उनको सदुपदेश दिया करते थे, नाना प्रकार की धर्मचर्चा किया करते थे और पातिव्रत धर्म का वर्णन करके उनको स्त्री-धर्म का मर्म समझाया करते थे । सीतादेवी भी रामचन्द्रजी की अमृतमयी वाणी को सुन कर अत्यन्त प्रसन्न होती थीं । वे स्वामी की बातों को बड़े ध्यान से सुनती थीं । कभी कभी वे अपनी बाललीलाओं को अपने स्वामी के सामने कहा करती थीं । यह हम पहले कह चुके हैं कि जब सीतादेवी बचपन में अपने पिता के यहाँ ऋषि-मुनियों से बात-चीत किया करती थीं तब उनके मन में तपोवन और तपस्वियों के आश्रमों के दर्शन की लालसा प्रबल हो उठती थी । अतएव स्वामी से वार्तालाप करते समय भी कभी कभी उनके मन में वही इच्छा जाग्रत हो उठती थी । अपने स्वामी के साथ पुष्पित वन में विहार करने की प्रबल लालसा सीताजी के मन में प्राय: उठा करती थी । क्या दया-सागर रामचन्द्रजी अपनी प्रेयसी को कभी उनकी इच्छानुसार वन में भ्रमण करने नहीं ले जायँगे ? क्या वे उनकी इच्छा पूरी न करेंगे ? जब कभी सीताजी रामचन्द्रजी से इस तरह की प्रार्थना किया करती थीं तब उनके मन में बड़ा आनन्द होता था । रामचन्द्रजी भी देवरूपिणी सीतादेवी का यथोचित सत्कार करके उनको सदा प्रसन्न रखने का उद्योग किया करते थे ।

लक्ष्मणजी मनसा, वाचा, कर्मणा रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त थे। वे बचपन से ही रामचन्द्रजी में विशेष अनुराग रखते थे। जहाँ रामचन्द्रजी जाते वहाँ धनुष-बाण लिये लक्ष्मणजी पीछे पीछे हो लेते थे। रामचन्द्रजी भी लक्ष्मणजी के बिना कोई काम नहीं करते थे और न कहीं जाते थे। सीताजी में भी लक्ष्मणजी की अपूर्व भक्ति थी। वे उनको सुमित्रा के समान ही जानते और मानते थे। सीतादेवी भी उनको छोटे भाई के वा पुत्र के समान प्यार करती थीं।

सीतादेवी कौशल्या आदि की भी बड़ी श्रद्धा से सेवा किया करती थीं। कौशल्या आदि अपनी पुत्रवधू की सेवा-टहल से बड़ी प्रसन्न रहती थीं। वे सब सीतादेवी को पुत्री से भी अधिक चाहती थीं। बात यह कि सीतादेवी ने अपनी सुशीलता से सबको मोहित और प्रसन्न कर रक्खा था। यही कारण था कि वे जब से अपने माता-पिता को छोड़ कर आई थीं तब से एक क्षण के लिए भी उनके वियोग का दुःख उनको नहीं हुआ। उन्होंने एक दिन भी अपने घर के लोगों का स्मरण नहीं किया। वास्तव में सीतादेवी साक्षात् गृहलक्ष्मी थीं। उनके अलौकिक रूप-सौन्दर्य और पवित्रता से सारा राजमहल सुशोभित हो रहा था। यहाँ तक कि जब कभी क्षणमात्र के लिए भी वे राजमहल से पृथक् हो जाती थीं तब वह प्रकाशरहित स्थान की तरह अन्धकारमय प्रतीत होने लगता था।

इसी तरह ससुराल में सुखपूर्वक निवास करते करते सीतादेवी को बारह वर्ष व्यतीत हो गये। अब सीतादेवी में पहले से बहुत अन्तर आ गया है। अब वे पहले की तरह क्षण में चञ्चलता और क्षण में गाम्भीर्य्य स्वभाव धारण करने वाली नहीं हैं। नवयौवन के समागम में उनकी जो शोभा थी अब उसमें कुछ अन्तर आगया है। अब वे यौवनावस्था के मध्य भाग में पहुँच चुकीं। परन्तु उनके मुख की सरलता

और पवित्रता अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। उसमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं आया। अब उनके सौन्दर्य्य में चाञ्चल्य का सर्वथा अभाव है। अब उनके मुख पर गाम्भीर्य्य की छटा विद्यमान है। अब उनके मुख पर एक प्रकार का अनोखा तेज विराजमान हो रहा है। महात्मा रामचन्द्रजी भी अब उत्तरोत्तर उनमें और अधिक श्रद्धा बढ़ाते जाते हैं। अब पति-पत्नी दोनो ऐसे प्रेमी और अनुरागी हो गये हैं कि उनका हृदय अभिन्न हो रहा है। शरीर भिन्न भिन्न होने पर भी उनका मन अभिन्न है। जिस तरह रामचन्द्रजी सीताजी के मनोगत भावों को स्पष्टतया पहचान लेते हैं उसी तरह सीतादेवी भी अपने स्वामी के आन्तरिक भावों को तुरन्त समझ लेती हैं। इस तरह उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो ही रहा था कि इतने में उनके जीवन-नाटक के एक नवीन अङ्क का सूत्रपात हो गया।

यद्यपि राजा दशरथ को वृद्धावस्था में चार पुत्रों का लाभ हुआ था तथापि उनके चारों पुत्रों ने अल्पकाल में ही अपने गुणो से ऐसी प्रतिष्ठा और प्रशसा प्राप्त कर ली कि जिसको सुन कर राजा दशरथ ऐसे आनन्दमग्न हुए कि उनके मन में बहुत समय तक सन्तान न होने का जो दु ख हुआ था वह सर्वथा विस्मृत हो गया। राजा दशरथ चारों पुत्रों को प्राण के समान प्यार करते थे। चारो पुत्र भी अपने पिता मे समान भाव से श्रद्धा भक्ति रखते थे। यद्यपि चारो भाई सुन्दर, सज्जन, गुणी, विद्वान, मातृपितृभक्त, धनुर्विद्या-विशारद और महापराक्रमी थे तथापि तारागणो मे चन्द्रमा के समान रामचन्द्रजी विशेष शोभाधाम थे। वे मिष्टभाषी, प्रियदर्शन और सत्यव्रत थे। वे शास्त्र और शस्त्रविद्या में जैसे पारङ्गत थे वैसे ही विनयी और क्षमा-शील भी थे। वे जहाँ एक ओर प्रजा के हितसाधन में मग्न रहते थे वहाँ दूसरी ओर दुष्ट और पापियों को उचित दण्ड देकर न्याय और

धर्म की रक्षा करने में भी यत्नवान् रहते थे। इसी प्रकार के राजदुर्लभ अनेक गुणों से विभूषित होकर रामचन्द्रजी सर्वसाधारण प्रजावर्ग के और विशेषत: वृद्ध महाराज दशरथ के प्रीतिभाजन बन गये। वास्तव मे प्रजाजन महाराज दशरथ से कहीं अधिक उन पर अनुराग प्रकट करते थे। रामचन्द्रजी में सर्वसाधारण प्रजावर्ग की ऐसी श्रद्धा, ऐसा प्रेम और ऐसा अनुराग देख कर महाराज दशरथ को जितना आनन्द हुआ वह कहा नहीं जा सकता। वे उस आनन्द को अपने मन ही मन अनुभव करते थे।

जब राजा दशरथ बहुत वृद्ध हो गये और राज्य-पालन मे उनका सामर्थ्य कम हो गया तब उन्होंने लोकाभिराम रामचन्द्रजी को युवराज बना कर स्वयं वानप्रस्थाश्रम में जाने का संकल्प कर लिया। इसी उद्देश से उन्होंने इस काम में बहुत विलम्ब न करके अपने मन्त्रियों से भी परामर्श किया तो उन्होंने भी अपनी सहमति प्रकाशित की। तदनन्तर राजा दशरथ ने अपने अधीन समस्त राजगण, सामन्त और अन्यान्य राष्ट्रीय प्रधान पुरुषों को निमन्त्रण भेज कर बुलवाया और उनके आने पर सबको यथायोग्य भोजनादि से सत्कृत किया।

प्राचीन काल में राजा लोग महाप्रतापी और महाबली होने पर भी प्रजारञ्जन करना अपना मुख्य धर्म समझते थे। और, राजा का मुख्य कर्तव्य है भी यही। जो राजा प्रजारञ्जन नहीं कर सकता वह अपने कर्तव्य से गिर कर नष्ट हो जाता है। इसी लिए प्राचीन राजा अनेक कष्ट सह कर भी प्रजारञ्जन-कार्य्य से विमुख न होते थे। यही कारण है कि ऐसे न्यायकारी धर्मात्मा राजाओं का नाम आज भी वैसी ही प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है जैसा उनके राजत्व-काल मे लिया जाता था। जब तक इस संसार में सूर्य्य-चन्द्र विद्यमान रहेंगे, जब तक इस भूमि पर एक भी आर्य्य जीवित रहेगा, तब तक

ऐसे राजाओं की पवित्र कीर्ति अटल और अचल बनी रहेगी। प्राचीन इतिहास के देखने से विदित होता है कि ऐसे प्रजारञ्जक राजाओं की प्रजा भी अपने राजाओं को प्राणों के समान चाहती थी। प्राचीन काल में ऐसे राजा देवसमान माने जाते थे और उनकी पूजा होती थी। प्राचीन राजा स्वेच्छाचारी नहीं होते थे। वे चतुर और विद्वान् मन्त्रियों से परामर्श लिये बिना कभी कोई काम नहीं करते थे। हठ और दुराग्रह का तो उनमें नाम तक न था। राज्यसम्बन्धी बड़े बड़े कामों में वे मन्त्रियों की ही नहीं किन्तु बड़े बड़े प्रजा-पुरुषों की भी सम्मति लेकर उससे लाभ उठाते थे। प्रजा से विरुद्ध काम करने में वे सदा ईश्वर से डरते थे। जिस ईश्वर ने किसी को लाखों करोड़ों मनुष्यों पर आधिपत्य दिया हो और वह अधिपति यदि उन मनुष्यों को सन्तुष्ट न रख सका, उनका मनोरञ्जन न कर सका तो उसके होने से लाभ ही क्या। राजा का तो अस्तित्व प्रजाहित ही के लिए होता है। प्रजा के सुख के लिए राजा को प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए।

प्राचीन काल में सत्य की बड़ी प्रतिष्ठा थी। पहले लोग सत्यभाषी और सत्यवादी होते थे। जो लोग राजसभा में बैठ कर राजकार्य्य में अपना मत प्रकाश किया करते थे वे अपनी सत्यता और स्वतन्त्रता को कभी हाथ से नहीं जाने देते थे। चाटुकारिता का भाव उनमें लेशमात्र न था। वे स्वतन्त्रता और निर्भयता से अपना मत प्रकाशित करते थे और उदार राजा लोग उनके मत को बड़ी श्रद्धा से सुनते और मानते थे। वे राजा के डर से कभी उसके अन्यायकार्य्य का अनुमोदन नहीं करते थे। सारांश यह कि राजा दशरथ के बुलाये हुए सब लोग ऐसे ही न्यायप्रिय और निर्भय थे।

जब सब लोग राजसभा में अपने अपने आसन पर बैठ गये तब महाराज दशरथ ने सबको सम्बोधित करके कहा—"प्रिय

सज्जनो, अब मैं वृद्ध हो गया। मैंने अपने शरीर का क्षय करके बहुत दिन तक राज्यशासन और प्रजापालन कर लिया। अब मैं वृद्धावस्था के कारण प्रजापालन में असमर्थ हो गया। अब मैं राज्य का समस्त भार अपने ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र को सौंप कर निश्चितरूप से ईश्वरभजन करना चाहता हूँ। कारण यह कि शरीर नश्वर है। न जाने यह कब छूट जाय। इस लिए अब सब कार्य्यभार को छोड़ कर केवल ब्रह्म-ध्यान में मग्न होना ही मेरे लिए परम उचित है। और, शास्त्र की आज्ञा भी यही है। पुत्र के समर्थ हो जाने पर उसको गृहस्थ आदि का भार सौंप कर वानप्रस्थ-आश्रम का अवलम्बन करना ही पिता का एक मात्र कर्तव्य है। इसलिए मैं आप लोगों से सम्मति माँगता हूँ कि आप लोग रामचन्द्र को इस योग्य समझते हैं या नहीं? और यदि आप लोग उससे अधिक किसी और को योग्य समझते हों तो वह भी कहिए।"

राजा दशरथ के मुँह से रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की बात सुनते ही सब लोगों ने इतना हर्ष प्रकट किया, इतनी अधिक आनन्द-ध्वनि प्रकाशित की कि सारी राजसभा गूँज उठी। सब लोग तुरन्त कहने लगे—"रामचन्द्रजी को ही राज्यभार सौंपना चाहिए।" तदनन्तर लोगों ने रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन करके उन्हीं को युवराज बनाने के बहुत से कारण प्रकट किये।

मन्त्रियों और प्रजापुरुषों की सम्मति मिलने पर महाराज दशरथ ने रामचन्द्रजी को राजगद्दी देने का शुभ संवाद उसी समय सभा में सुना दिया। जब यह मङ्गल-समाचार नगरी में फैला तब सब लोग सुन कर आनन्दसागर में निमग्न हो गये। अयोध्या नगरी मे नाना प्रकार के आनन्दोत्सव होने लगे। सर्वलोकप्रिय रामचन्द्रजी की जयजयकारों से सारा आकाश भर गया। घर घर शुद्धि होने

लगी। द्वारों पर बंदनवारें बांधी जाने लगीं। सड़कों पर चन्दन का छिड़काव होने लगा। रामचन्द्रजी के राजतिलकोत्सव का समाचार सुन कर कोई जन धन-दान करने लगा; कोई गान-वाद्य कराने लगा। जहां देखिए वहीं आनन्द-उत्सव छा रहा था। राजमन्दिर का क्या पूछना है। वहां तो मानो आनन्द का सागर उमड़ रहा था। राजा दशरथ की आज्ञानुसार अभिषेक की समस्त सामग्रियां इकट्ठी की जाने लगीं। राजगुरु वशिष्ठजी महाराज ने अभिषेक से पहले होनेवाले नियमों और व्रतों का रामचन्द्रजी को उपदेश कर दिया। सीता देवी भी गुरुजी के आज्ञानुसार ईश्वरोपासना में लग गईं। इस तरह दोनों—पति-पत्नी—गुरुजी के आदेशानुसार व्रतों और नियमों का पालन करने लगे।

राजमहिषी अथवा महारानी बनने की बात सुन कर क्या सीताजी को आनन्द हुआ होगा? कभी नहीं। सीतादेवी साधारण स्त्री नहीं थीं। वे मान और पद की भूखी नहीं थीं। सीताजी में स्वार्थ का लेश भी नहीं था। इसी लिए वे अपने लिए किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करती थीं। पति के सुख और आनन्द की चिन्ता को छोड़ कर उनको और किसी बात की चिन्ता ही न थी। पति के आनन्द में ही उनका आनन्द था और पति के दुःख में दुःख। सीता देवी ने अहङ्कार और ममता को सर्वथा जीत लिया था। वे केवल स्वामी के लिए ही जीवन-धारण करती थीं। स्वामी के प्राणों के साथ प्राण मिला कर सीतादेवी ने अपनी स्वतन्त्रता स्वामी की स्वतन्त्रता में मिला दी। इसी लिए कहा जाता है कि सीतादेवी में और रामचन्द्रजी में कुछ अन्तर नहीं था। वे दोनों एक ही थे। यही कारण था कि पति के सुखी होते ही सीतादेवी को परम सुख प्राप्त होता था। आज राजमहिषी बनने की बात सुन कर सीताजी को तनिक भी हर्ष नहीं

हुआ। और यदि वे कल राजपाट छोड़ कर पति के साथ किसी आपत्ति में फँस जायँ तो क्या आप समझते हैं सीताजी को कुछ कष्ट होगा? कभी नहीं। बस, उनको उस समय जो आनन्द हुआ वह इसलिए नहीं कि वे पटरानी बनेंगी, किन्तु इसलिए कि उनके प्राणेश्वर और प्रेमनाथ रामचन्द्रजी राज्य को प्राप्त होकर प्रजा का पालन करेंगे। सीतादेवी के पवित्र चरित्र में यही एक विशेषता है। उनके ऐसे ऐसे गूढ़ चरित्रों के मर्म को समझ लेने पर उनके चरित्र का माहात्म्य समझना कठिन नहीं है।

जब रात्रि बीत गई और दिन निकल आया तब सब लोग यह कह कह कर आनन्द-उत्सव मनाने लगे कि "आज लोकप्रिय रामचन्द्रजी को राजतिलक होगा।" सीतादेवी और रामचन्द्रजी भी रात भर ईश्वर-पूजा करके प्रातःकाल राज्याभिषेक की शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करने लगे।

ईश्वर की भी कैसी विचित्र लीला है। तनिक सी देर में कुछ का कुछ हो जाता है। कोई नहीं कह सकता, घड़ी भर पीछे क्या होगा। आज जो लक्षाधीश है वह कल दाने दाने को भटकता फिरता था। जो कल-परसों एक एक टुकड़े को भटकता था और अङ्गाच्छादन के लिए जिसे एक चीथड़ा तक न मिलता था आज राजसी ठाठ के साथ राजमहलों में सुखपूर्वक निवास करता है। इस जगत् में कुछ भी स्थिरता नहीं। समस्त संसार अस्थिरता से भरा हुआ है। ऐसी दशा में न किसी को अपने रूप का घमण्ड करना चाहिए, न धन का; न कुटुम्ब का अभिमान करना चाहिए, न बल का।

ईश्वर की रचना बड़ी विचित्र है। न जाने भगवान् ने दुष्ट मनुष्यों को क्यों उत्पन्न किया है! जब हम नीच प्रकृति वाले मनुष्यों का स्मरण करते हैं तब हमको विस्मित होना पड़ता है। जगत् में

कोई बुरा काम नहीं जिसे दुष्ट मनुष्य न कर सकते हों। दुष्टजनों का तो स्वभाव ही दुष्टता से भरा रहता है। उनकी नस नस मे दुष्टता भरी रहती है। भलाई का तो वे नाम तक नहीं जानते। इसलिए उनके साथ कोई भलाई भी करे तो वे उसके साथ भी बुराई ही करते हैं। वे हर जगह से, बात बात में, बुरा ही ढूँढ़ा करते हैं। यदि कोई सज्जन किसी दुष्ट मनुष्य को कोई अच्छी वस्तु प्रदान करे वा सदुपदेश करे तो वे बातें उसको अच्छी नहीं लगतीं। वे अच्छाई को दूर कर सदा बुराई को ही ग्रहण किया करते हैं। दुष्ट मनुष्य सौन्दर्य्य और पवित्रता के सर्वथा विरोधी होते हैं। वे किसी को सुखी नहीं देख सकते। दूसरे को सुखी देखते ही उन्हें ईर्ष्याग्नि में भस्म होना पड़ता है। यदि उन्हें कहीं किसी मनुष्य में निष्कलंकता, साधुता और पवित्रता दिखाई देती है तो वे अपनी कलुषित कल्पना से, अपने मलिन भावों से उसको कलङ्कित कर देते हैं। असाधुता और पाप की वृद्धि होती देख कर उनको जितना आनन्द होता है उतना और किसी काम में नहीं होता। चाहे कोई उनका अहित करे, या न करे, वे सदा सबका अहित ही करते हैं। वे इतने स्वार्थी होते हैं कि स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे दूसरों के सुख-दुःख का कुछ भी विचार नहीं करते। सारांश यह कि ऐसे ही दुष्टजन समाज मे कलङ्करूप होते हैं और ऐसे ही दुष्टों के द्वारा समाज मे अशान्ति और अकल्याण फैलता है।

मन्थरा ऐसी ही नीच प्रकृति वाली स्त्री थी। वह बूढ़ी तो थी ही पर कुबड़ी भी थी। वह देखने में बहुत कुरूपा थी। महर्षि वाल्मीकि ने और गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने अपने काव्यों—रामायणों—में कुब्जा मन्थरा की दूषित प्रकृति का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। उन कवि महाशयों ने कुब्जा के दुर्भावों और दुष्ट मन की प्रकृतियों का बहुत ही अच्छा वर्णन किया है। अस्तु, वह कुबड़ी केकयी

की दासी थी। वह केकयी के नैहर से उसके साथ आई थी। इस लिए वह केकयी की बड़ी हितकारिणी थी। मन्थरा केकयी को सदा ऐसा ही उपदेश देती रहती थी कि जिससे महाराज दशरथ उसके वशीभूत रहें। यद्यपि केकयी राजकन्या और राजमहिषी थी तथापि उसका हृदय बहुत उच्च न था। उसके हृदय में जैसी चाहिए थी वैसी उदारता न थी। उत्तम प्रकृति वाली न होने पर भी केकयी साधारण स्त्रियों से किसी बात में कम भी न थी। यद्यपि वह नीचता से सदा घृणा किया करती थी तथापि उसके चरित्र में दृढ़ता का अभाव था। वह अपनी बुद्धि से विचार कर काम नहीं कर सकती थी। इसलिए उसको प्रत्येक कार्य में मन्थरा का सहारा लेना पड़ता था। मन्थरा की सम्मति के बिना वह कोई काम नहीं करती थी। वास्तव में मन्थरा बड़ी चतुर थी। वह कूटनीति के जानने में बड़ी निपुण थी। वह अपनी कूटनीतियों के द्वारा ही केकयी का हितसाधन किया करती थी। उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। वह केकयी को कभी किसी बात की चिन्ता ही न होने देती थी। मन्थरा उसको ऐसी पट्टी पढ़ाती थी कि तदनुसार काम करने से केकयी वृद्ध महाराज को सदा अपनी मुट्ठी में रक्खा करती थी। यद्यपि राजा दशरथ के तीन रानियाँ थीं तथापि मन्थरा की कृपा से वे केकयी को सबसे अधिक प्यार करते थे। यद्यपि उनका प्रेम, अनुराग कौशल्या में भी कम न था तथापि केकयी उनकी बड़ी प्यारी रानी थी।

जिस समय राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया था और तदुपरान्त उनकी तीनों रानियाँ गर्भवती हुई थीं उस समय मानिनी मन्थरा के मन में एक महाभय उपस्थित हुआ था। वह सोचा करती थी कि यदि केकयी के सबसे पहले पुत्र न उत्पन्न हुआ, और हो किसी रानी के पहले हो गया, तो फिर केकयी का राजमाता होना असम्भव हो

जायगा। क्योंकि धर्म-शास्त्रानुसार ज्येष्ठ पुत्र को ही राजगद्दी मिल सकती है, अन्य को नहीं। परन्तु मन्थरा के मन में जिस बात का भय था वही आगे आया। क्योंकि केकयी के पुत्र भरतजी द्वितीय पुत्र थे। चारों भाइयों में कौशल्या-नन्दन रामचन्द्रजी ही ज्येष्ठ थे। ज्येष्ठ होने से वही राजगद्दी के अधिकारी थे। परन्तु केकयी को इस बात की कुछ चिन्ता न थी। वह तो अपने सुशील पुत्र को प्राप्त होकर बड़ी प्रसन्न रहती थी। वह मन्थरा के समान स्वार्थिनी और अदूरदर्शिनी न थी। वह महाराज दशरथ के अन्यान्य राजकुमारों को भी भरतजी के ही समान प्यार करती थी। विशेष कर रामचन्द्रजी की सुशीलता, सत्यता और भातृवत्सलता आदि गुणों पर तो केकयी बहुत ही मोहित थी। भला जब रामचन्द्रजी सर्वजनप्रिय थे तब केकयी के स्नेहभाजन क्यों न होते। अब तक केकयी के मन में रामचन्द्रजी के प्रति कुछ भी दुर्भाव उत्पन्न न हुआ था। केकयी की मुँहचढ़ी दासी ने भी अभी तक अपनी विषैली कूटनीति से उसके मन को नहीं फेरा था। मन्थरा बड़ी बुद्धिमती थी। वह अवसर देख रही थी। अब दैववशात् उसको वह सुयोग मिल गया।

हम यह पहले कह चुके हैं कि रामचन्द्रजी के राजतिलकोत्सव का सुसमाचार फैलते ही सारी अयोध्या नगरी आनन्द-कोलाहल से गूँज उठी। जब यह कोलाहल मन्थरा ने सुना तब वह सहसा चमत्कृत होकर उसका कारण जानने के लिए महल के ऊपर अटारी पर चढ़ गई। वहाँ जा कर चारों ओर दृष्टि फैला कर देखा तो प्रत्येक घर ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित हो रहा था। सड़कें स्वच्छ सुथरी पड़ी थीं, सुगन्धित जल छिड़का जा रहा था और फूलों की मालाओं से सजावट की जा रही थी। रात को दीपोत्सव करने की इच्छा से वृक्षाकार स्तम्भ बना कर खड़े किये जा रहे थे। यज्ञशालायें स्वच्छ और
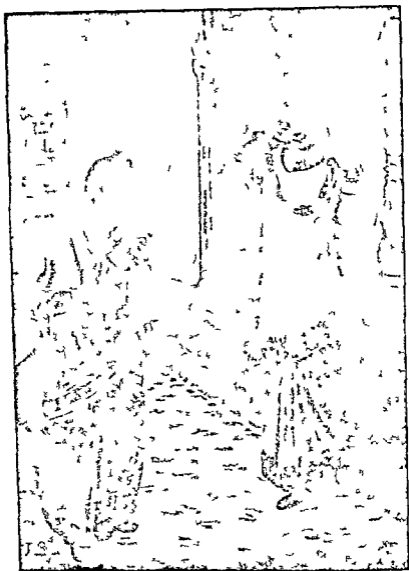
कैकयी और मन्थरा।

पवित्र की जा रही थीं। उस समय मन्थरा ने जिधर आँख उठा कर देखा उधर ही आनन्दमङ्गल के साज सजते दिखाई दिये। उसने देखा कि अयोध्यावासी सब लोग सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये महोत्सव में मग्न हुए जहाँ तहाँ फिर रहे थे। उस महोत्सव का कारण समझने की इच्छा से मन्थरा ने सामने खड़ी हुई एक दासी से पूँछा कि यह आज क्या हो रहा है।

मन्थरा के पूँछने पर दासी ने उस आनन्दोल्लास का सच्चा सच्चा कारण सुना दिया। रामचन्द्रजी के राजतिलक का समाचार सुनते ही मन्थरा की आशा-लता पर तुषार पड़ गया। उसकी आशा निराशा में बदल गई। वह सोचने लगी कि क्या सचमुच कौशल्या-नन्दन रामचन्द्र ही राजगद्दी पर बैठेंगे? क्या अब कैकयी का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो जायगा? क्या अब भरत के भाग्य में सदा के लिए परतन्त्रता का ही भोग भोगना है? कुबड़ी के कलुषित हृदय में इसी तरह की बातें उठने लगीं। उसके हृदयक्षेत्र में एक प्रकार का घोर द्वन्द्व युद्ध होने लगा। उसको अब निश्चय हो गया कि अब कैकयी और भरत दोनों का भविष्य अन्धकार-मय हो गया। वह अपने मन में सोचने लगी कि जब राम राजसिंहासन पर बैठ जायँगे और राज्य को स्वाधीन कर लेंगे तब क्या कोई उनको पदच्युत कर सकता है? कदापि नहीं। तो क्या अब भरत के उद्धार का कोई मार्ग है ही नहीं? इतना कह कर उसने कुछ देर तक सोचा, और सोचने के पश्चात् कुटिल आँखें खिल गईं, मुख प्रसन्न हो गया और नैराश्य के बदले फिर आशा-लता लहलहाने लगी। कुछ सोचने के पश्चात् मन्थरा तुरन्त राजमहल में चली गई।

कैकयी के महल में जाकर मन्थरा ने कहा—"रानीजी, तुम तो सदा अपने सुख और सौभाग्य के ही गर्व में चूर रहती हो। तुम्हारे घर के द्वार पर क्या हो रहा है—इसका तुमको कुछ भी पता नहीं।

तुम तो सदा राजा की प्यारी रानी होने के अभिमान में ही चूर रहती हो। परन्तु, रानीजी, अब वे दिन गये। अब उन सुख के दिनों को भूल जाओ। अब वह तुम्हारा सुखस्वप्न मिट्टी में मिल गया।" मन्थरा के मुँह से इतना सुनते ही केकयी उस बात का मर्म पूछने लगी। मन्थरा ने सारा समाचार सुना दिया। मन्थरा के मुँह से रामचन्द्रजी के राजतिलक का आनन्दसमाचार सुन कर सरल-हृदया केकयी आनन्द में प्रफुल्लित हो उठी। ऐसे आनन्ददायक समाचार सुनाने के बदले वह अपने गले में से एक रत्नजटित हार उतार कर मन्थरा को पारितोषिक देने लगी। पारितोषिक देने के लिए केकयी ने हाथ बढ़ाया ही था कि इतने ही में मन्थरा का मुँह क्रोध से लाल हो गया। उसने केकयी के दिये हुए हार को दूर फेंक कर उसकी मन्दबुद्धि की जी खोल कर निन्दा की। उसने रानी को बहुत कुछ बुरा भला कहा। अन्त में उसने रानी को समझा कर कहा—"देखो रानी, जो राम राजा हो जायँगे तो इसमें तुम्हारे लिए भी भलाई नहीं, किन्तु बुराई अनेक निकलेंगी। राम के राजा होने में तुम्हारा बड़ा अनर्थ होगा। ऐसा होने पर भरत को राम के अधीन होकर जीवन-निर्वाह करना होगा। और, यही नहीं, किन्तु तुमको भी कौशल्या और सीता का ही मुँह देख कर रहना होगा। इसलिए रानीजी, यदि तुम अपना और अपने पुत्रादि का जीवनस्वातन्त्र्य बनाये रखना चाहती हो, यदि तुमको अपना जीवन सुख पूर्वक व्यतीत करना है, तो शीघ्र ही कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे राम को राजतिलक न होकर भरत को राजगद्दी मिले। इसके लिए तुमको प्राणपण से शीघ्र उद्योग करना चाहिए।

पहले तो केकयी ने, रामचन्द्रजी के प्रेम के वश होकर, मन्थरा की बातों को सुना अनसुना कर दिया और उसको बहुत कुछ बुरा भला भी कहा। पर अन्त में मन्थरा ही की इच्छा पूरी हुई। उसी की

जीत हुई। भला कूटनीति के जाननेवाली मन्थरा के सामने कैकयी की क्या चल सकती थी? मन्थरा ने अपने युक्तिजाल से कैकयी को फँसा लिया। फिर न जाने मन्थरा की बातों में आकर कैकयी की साधुता कहाँ चली गई। कैकयी ने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं इस काम में पूरा उद्योग करूँगी। देखिए, मन्थरा के बहकाने से कैकयी की कैसी कायापलट हो गई। थोड़ी ही देर में स्वर्णलता काली नागिन के समान विषैली हो गई।

कैकयी ने कहा—"अयि मन्थरा, तूही मेरी एक हितकारिणी है। तूही कोई ऐसा उपाय बतला कि जिससे सिर पर आई हुई आपत्ति की यह घटा एक दम उड़ जाय। मैं सच कहती हूँ, यदि महाराज भरत को राज्य न देकर राम को ही राज्य-भार सौंप देंगे तो मैं प्राण तज दूँगी।" कैकयी की बातें सुन और उसको अपने अनुकूल जान कर मन्थरा मन ही मन प्रसन्न हो कर बोली—"महारानीजी, इसका उपाय तो तुम्हारी मुट्ठी में है। मालूम होता है, इस समय तुम उसको भूल गई हो। क्या तुमको याद नहीं, एक बार राजा दशरथ, जब शम्बर दैत्य से युद्ध करने गये थे तब, युद्धभूमि में, वे एक बार बहुत घायल हो गये थे। उस समय तुम्हीं अकेली ने उनकी सेवा-टहल करके उनको आराम किया था। हमने सुना था कि उस समय तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हो कर महाराज ने तुमको दो इच्छित वर माँगने के लिए कहा था। परन्तु तुमने उस समय एक भी वर न माँग कर यह कह दिया था कि जब कभी मुझे आवश्यकता होगी तभी ले लूँगी। अब उन दोनों वरदानों के पूरा करने का यही समय है। पहले वर से तो राम को चौदह वर्ष का वनवास और दूसरे से भरत को राज-तिलक। यह माना कि रामचन्द्र लोकप्रिय हैं, सब कोई उनको प्यार करता है, पर राजगद्दी को प्राप्त हो कर भरत भी चौदह वर्ष में अपनी

बुद्धिमत्ता और सज्जनता से सारी प्रजा को वशीभूत कर लेंगे। इसमें संदेह नहीं। इसलिए अब तुम मलिनवेश धारण करके क्रोधागार में जाकर पड़ रहो और जितना तुमसे रोया जाय खूब रोओ। तुम अपने आंसुओं से वहाँ की धरती को भिगा देना और अपना काम बिना बनाये वहाँ से मत उठना। महाराज दशरथ तुम्हारे देखने को अवश्य ही आवेंगे। बस वही समय तुम्हारी धीरता का है। तुम अपने हठ पर दृढ़ता के साथ जमी रहना। राजा को सत्य के बन्धन में फाँस कर अपने दोनों वर माँग लेना। राजा सत्यवादी हैं। वे अपनी प्रतिज्ञा को अवश्य पूर्ण करेंगे। बस, यही एक उपाय है कि जिसके करने से तुम्हारा काम बन जायगा।

मन्थरा की बातें सुन कर कैकयी को बहुत हर्ष हुआ। वह प्रसन्न हो कर मन्थरा की प्रशंसा करने लगी। फिर उसने मन्थरा को बड़े प्रेम से गले लगाया और बहुत से वस्त्राभूषणादि द्रव्य पारितोपिक में देकर कृतज्ञता प्रकाशित की।

जब राजा दशरथ रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की घोषणा प्रकाशित करके महलों को चले तब उन्होंने मन में सोचा था कि सबसे पहले कैकयी के महल में जाकर उनको ही यह आनन्द-समाचार सुनाना चाहिए। यह सोच कर वे पहले कैकयी के ही महल में गये। वहाँ जाकर राजा ने जब कैकयी को अपने स्थान पर न पाया तब उन्होंने बड़ा आश्चर्य माना। जब एक दासी के कथन से उनको यह विदित हुआ कि रानी कोपभवन में पड़ी है तब तो उनकी छाती पर साँप लोटने लगा। उन्होंने वहाँ जाकर देखा तो रानी सचमुच मैले कपड़े पहने धरती पर लोट रही है, गहने उतार कर अलग फेंक दिये हैं और आँसुओं की धारा बह रही है। अपनी प्रियतमा रानी की ऐसी दयनीय दशा देख कर राजा दशरथ का कोमल हृदय दया से भर

गया। उनको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने बड़ी नम्रता से उस क्रोध का कारण पूछा। परन्तु राजा के बार बार पूछने पर भी अभिमानिनी रानी ने कुछ उत्तर न दिया। वह चुप चाप आंसू बहाती रही। कई बार पूछने पर भी जब रानी ने कुछ उत्तर न दिया तब मारे भय और शोक के उनका हृदय कांपने लगा। उन्होंने कहा—"प्यारी, क्या तुम्हारे शरीर में कुछ रोग है ? क्या किसी ने तुम्हारा अपमान किया है ? अथवा किसी ने तुम्हारे काम में कुछ रुकावट डाली है ?" राजा व्याकुल हो कर बार बार इसी तरह पूछने लगे। कुछ देर पश्चात् कैकयी ने आँसुओं को पोंछ कर गद्‌गद्‌वाणी से कहा—'महाराज, हमारे शरीर में कोई रोग नहीं है, हमारा किसी ने अपमान नहीं किया और हमारे काम में किसी ने रुकावट भी नहीं डाली। किन्तु हमारी आपसे एक प्रार्थना है। यदि आप उसको पूरा करने की प्रतिज्ञा करें तो कहूँ'। यदि आप प्रतिज्ञा करके मेरा काम पूरा कर दें तो मेरा सारा शोक दूर हो जाय। और, यदि, ऐसा न हुआ तो स्मरण रखिए, मैं यहीं प्राण तज दूँगी।" इतना सुन कर राजा ने हँस कर कहा कि "प्यारी, कहो तो, जो कहोगी वही करूँगा। मैं शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो तुम कहोगी वही करूँगा।"

जब राजा ने शपथ खाकर प्रतिज्ञा कर ली और रानी को यह मालूम हो गया कि राजा सत्य की फाँसी में फँस गये, तब उसने स्वार्थ सिद्ध करने का अच्छा अवसर समझा। रानी ने कहा—"राजन्, एक बार जब शम्बर दैत्य के साथ युद्ध करने के लिए आप बाहर गये थे तब मैं भी आपके साथ गई थी। उस युद्ध में आप बहुत घायल हो गये थे। उस समय मैंने आपकी प्राणपण से सेवा की थी। उस सेवा से प्रसन्न होकर आपने मुझे दो वर देने कहे थे। वे मैंने उस समय न मांग कर आपके पास धरोहर रख दिये थे। आशा है, यह बात आप

को अवश्य स्मरण होगी। अब मैं उन वरों को माँगती हूँ। सुनिए। पहला वर मैं यह माँगती हूँ कि आप कल प्रातःकाल ही रामचन्द्र को चौदह वर्ष के लिए वन में भेज दीजिए और दूसरा यह माँगती हूँ कि रामचन्द्र के बदले भरत को राजतिलक हो। आपने आज तक अपनी सब प्रतिज्ञायें सच्ची की हैं। इसलिए अब ये वचन भी पूरे करके सत्य-धर्म की रक्षा कीजिए। बस, मेरी यही प्रार्थना है।"

कैकयी की यह हृदय दहलाने वाली प्रार्थना सुन कर राजा दशरथ छिन्नमूल वृक्ष की तरह अचेत हो धरती पर गिर पड़े। उनका मुँह उतर गया, वाणी रुक गई और आँसुओं की धारा बह निकली। वे सहसा ऐसे अचेत हो गये कि उन्हें यह भी मालूम न रहा कि हम जागते हैं या सोते हैं। जब बहुत देर में उनकी मूर्च्छा दूर हुई तब उठ कर उन्होंने एक लंबी साँस ली और कैकयी को डाट कर कहा—"हा दुष्टे, तूने क्या कर डाला! पापिन, रामचन्द्र ने तेरा क्या अपराध किया है? वह तो तुझको अपनी माता से भी अधिक पूजनीय समझता है। अरे! राम के वनवास के लिए वचन निकालते समय तेरी जीभ के सैकड़ों टुकड़े क्यों न हो गये! क्या तू नहीं जानती है कि मैं रामचन्द्र के बिना क्षण भर भी नहीं जीता रह सकता? हे कैकयी! प्रसन्न हो और कृपा करके कोई और दूसरा वर माँग।"

स्त्रियाँ स्वभाव से ही दयावती होती हैं। उनका चित्त बड़ा ही कोमल होता है। यही नहीं, किन्तु उनके चित्त में उच्चभाव की भी कमी नहीं होती। जब उनके मन में धर्मभाव का संचार होता है तब वे पवित्रता की साक्षात् मूर्ति हो जाती हैं। उनके चरित्र का प्रधान अङ्ग निःस्वार्थता ही है। परन्तु साथ ही जब स्त्रियों में अधर्म की वृद्धि और नीच वासनाओं की प्रवृत्ति होती है तब उनके लिए संसार में कोई बुरे से बुरा भी काम ऐसा नहीं कि जिसे वे न कर सकती हों। फिर

कोई दुष्कर्म ऐसा नहीं जिसे वे न कर सकें। फिर वे सारे संसार मे अशान्ति और अनर्थ फैला देती हैं। उनके हृदय में कोमलता के स्थान में कठोरता, दया के स्थान में निर्दयता और निःस्वार्थता के स्थान मे स्वार्थपरता आजाती है। यही दशा उस समय कैकयी की हुई। जब कैकयी के मन में अधर्म और अपवित्रता की वृद्धि हुई, जब मन्थरा के नीच वचनों ने कैकयी का हृदय अपवित्र कर दिया, तब उसके हृदय मे राक्षसी स्वार्थपरता ने डेरा जमा लिया। उस समय वह स्वार्थ में ऐसी अन्धी हो गई कि राजा के विलाप और डाट-डपट का उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसने राजा की एक न सुनी। राजा की दीन दशा देख कर भी उसका पाषाणहृदय द्रवीभूत न हुआ। वह और उलटा राजा का उपहास करने लगी और अपने वाक्यबाणों से उनका शोक-पीड़ित हृदय बींधने लगी। उस समय राजा की कुछ तो बुद्धि बिगड़ गई थी और कुछ वे मोह में विमूढ़ हो रहे थे। वे बालकों के समान रोते रोते कभी कैकयी के चरणों मे मस्तक नवाते थे, कभी शोक में मूर्च्छित हो जाते थे और कभी चेतनता आने पर विक्षिप्त से दिखाई देने लगते थे। यह तो सब कुछ हुआ, परन्तु दुष्टा कैकयी का कठिन हृदय द्रवीभूत न हुआ। इसी तरह जैसे तैसे वह कालरात्रि बीत गई।

दिन निकलते ही रामराज्याभिषेक की तैयारी होने लगी। वशिष्ठ आदि मुनि लोग राजसभा मे आकर इकट्ठे होने लगे। परन्तु दिन चढ़ जाने पर भी जब वहाँ राजा न आये तब सब लोगों ने राजा को बुलाने के लिए सुमन्त्र को रनिवास मे भेजा। सुमन्त्र तुरन्त जाकर राजशयनागार के द्वार पर चिक के सहारे खड़ा हो गया। उसने वहीं से महाराज को राज-सभा में चलने और रामचन्द्रजी के राज-तिलक की तैयारी करने के लिए बड़ी नम्रता और प्रसन्नता से निवेदन किया। सुमन्त्र की बात सुन कर राजा को बहुत दुःख हुआ।

उन्होंने सुमन्त्र से कहा—"सुमन्त्र, तुम्हारे वचनों से मेरा हृदय और भी अधिक फटा जाता है।" राजा दशरथ के मुँह से ऐसे दुःखभरे वचनों को सुन कर सुमन्त्र विस्मय में होकर पीछे को हट कर खड़ा हो गया। वह सोचने लगा कि हैंय्! आज यह रंग में भंग कैसा! आज् ऐसे आनन्द-समय में राजा के मुख से ऐसे दुःख के वचन कैसे निकले! सुमन्त्र इस तरह सोच ही रहा था कि इतने मे केकयी बोल उठी—"सुमन्त्र, रामचन्द्र के राज्याभिषेकोत्सव के आनन्द मे राजा रात भर जागते रहे हैं। उन्हे रातभर नींद नहीं आई। इसी कारण ये इस समय थक रहे हैं। इसलिए तुम जल्द जाकर रामचन्द्र को यहां बुला लाओ। ये उनको देखना चाहते हैं।" इतना सुन कर सुमन्त्र राजा की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु जब राजा की भी वैसी ही इच्छा देखी तब सुमन्त्र रामचन्द्रजी को बुलाने के लिए वहाँ से तुरन्त चला गया।

पहले लिखा जा चुका है कि राजतिलक होने के एक दिन पहले रामचन्द्रजी और सीताजी ने रातभर ईश्वर-पूजा की और प्रातःकाल राजतिलक होने की आशा मे वे नित्यकर्म से निवृत्त होकर तैयार बैठे थे। इतने में ही राजा दशरथ के भेजे हुए सुमन्त्र ने आकर रामचन्द्रजी को प्रणाम किया और कहा कि "श्रीमहाराज ने आपको याद किया है।" इस बुलाने का तात्पर्य दोनों ने यही समझा कि राज्याभिषेक के लिए ही बुलाया होगा। अस्तु, रामचन्द्रजी पिता के अनन्य भक्त थे। वे पिता की आज्ञा पाते ही तुरन्त सुमन्त्र के साथ हो लिये। परन्तु जिस समय वे अन्तःपुर में पहुँचे उस समय वे बहुत विस्मित हुए। उन्होंने देखा कि महाराज और केकयी दोनों नीचा मुख किये दुःखसागर में निमग्न बैठे हैं। राजा का मुख फीका पड़ गया था और आंखों से आंसू बह रहे थे। रामचन्द्रजी ने आगे बढ़ कर पिता के चरण छुए और सिर नवा कर प्रणाम किया। राजा दशरथ

रामचन्द्रजी को प्रणाम करते देख कर 'हा राम!' कहते हुए मूर्च्छित हो गये। पितृभक्त रामचन्द्रजी पिता की ऐसी दीनदशा देख कर बहुत विस्मित और दुःखित हुए। उन्होंने माता को प्रणाम करके उन से पूछा—"माताजी, आज मुझको देख कर पिताजी इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं? और दिन की तरह ये आज मुझको प्यार क्यों नहीं करते? मेरे शरीर पर आज ये अपना वात्सल्यपूरित हाथ क्यों नहीं फेरते? क्या आज पिताजी को कुछ कष्ट है? क्या पिताजी का शरीर अस्वस्थ है? क्या आज मुझसे इनका कोई अपराध तो नहीं हो गया? यदि आप इन सब बातों का कारण जानती हों तो कृपा करके विस्तारपूर्वक शीघ्र कहिए। मुझसे पिताजी का दुःख और अधिक नहीं देखा जाता। पिताजी की यह दीन दशा देख कर मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है और हृदय फटा जाता है। जल्द कहिए।"

रामचन्द्रजी के सरल और विनीत वचनों को सुन कर भी कठोर कैकयी के मलिन मन में तनिक भी दया न आई। वह दुष्टा और निर्लज्जा कहने लगी—"वत्स, तुम्हारे पिता का शरीर नीरोग है। तुमने कोई उनका अपराध भी नहीं किया। इनके इतना अधिक दुःखी होने का कारण कुछ और ही है। इन्होंने अपने मन में कुछ बात सोची है, पर तुम्हारे डर से ये उसको तुम्हारे सामने कहते सकुचाते हैं। बात यह कि तुम इनको प्राणों के समान प्यारे हो और ये तुम्हारा अप्रिय नहीं करना चाहते। ये अपने मुँह से ऐसी बात नहीं कहना चाहते जिसे सुन कर तुम्हें दुःख हो। इसी लिए ये चुप हैं। इन्होंने मुझ से कुछ प्रतिज्ञा की थी। यदि तुम उसका पालन करना चाहो, और उसके पालन करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करो तो इनकी प्रतिज्ञा पूरी हो जाय, इनका सत्य बना रहे। जो तुम अपने पिता का कथन सत्य करना चाहते हो तो मेरे सामने प्रतिज्ञा करो, मैं सारी बात तुमको कह सुनाऊँ।"

रामचन्द्रजी धार्मिक-शिरोमणि थे। वे पिता की आज्ञा का पालन करना अपना प्रधान कर्तव्य समझते थे। माता केकयी के पूँछने पर उन्होंने पिता की आज्ञा पालन करने के लिए कैसी कठिन प्रतिज्ञा की थी, उसको वाल्मीकि मुनि के शब्दों में ही सुनिए। रामचन्द्रजी ने केकयी से कहा—

> "अहो धिङ् नार्हसे देवि ! वक्तुं मामीदृशं वचः।
> अहं हि वचनाद्राज्ञ. पतेयमपि पावके॥
> भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
> नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च॥
> तद्ब्रूहि वचनं देवि ! राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
> करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥"

वा० रा०, काण्ड २, सर्ग १८॥

"हे देवि ! धिक्कार है ! आपको मुझसे ऐसे वचन नहीं कहने चाहिएँ। सुनिए। पिता की आज्ञा से मैं अग्नि के कुण्ड में भी कूद सकता हूँ, हलाहल विष भी पी सकता हूँ, अगाध समुद्र में भी गिर सकता हूँ। क्योंकि एक तो ये मेरे पिता हैं, दूसरे गुरु हैं, तीसरे राजा हैं और चौथे हितकारी हैं। हे देवि, जो कुछ राजा ने मेरे लिए सोचा हो, उनकी जैसी कुछ इच्छा हो, वह मुझको कह सुनाओ। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं उसे अवश्य पूरा करूँगा। हे माता, स्मरण रखना चाहिए कि राम दो बार नहीं कहता।"

रामचन्द्रजी से इस तरह प्रतिज्ञा करा कर निर्दया केकयी कहने लगी—"वत्स, राजा ने मुझको दो वर देने को कहा था। अब मैंने वे दोनों माँग लिये हैं। पहले वर से मैंने भरत को राजतिलक और दूसरे से तुम्हारे लिए १४ वर्ष का वनवास माँग लिया है। परन्तु तुम्हारे स्नेह के वश राजा न तो तुमको वनवास की आज्ञा देना चाहते हैं और

न अपने वचनों को मिथ्या करके धर्म से भ्रष्ट होना चाहते हैं। अब, यदि, तुम अपने पिता के सत्यधर्म की रक्षा करना चाहते हो तो आज ही मुनियों का वेश बना कर वन में चले जाओ और १४ वर्ष तक वहाँ रहो। तुम्हारे राज्याभिषेक के लिए जो सामग्री तैयार की है उससे भरत को राजतिलक हो जायगा। अब तुम वन जाने में देर न करो। जब तक तुम यहाँ रहोगे तब तक राजा बराबर ऐसी ही शोकावस्था में रहेंगे और मैं भी तब तक अन्नजल ग्रहण न करूँगी। इस लिए तुमको वन जाने की जल्द तैयारी करनी चाहिए।"

पाठक, क्या आप सोच सकते हैं कि केकयी के मुख से ऐसा दारुण समाचार सुन कर रामचन्द्र जी के मन में तनिक भी दुःख हुआ होगा? कभी नहीं। रामचन्द्रजी साधारण पुरुष तो थे ही नहीं जो राज्य त्याग कर वनवास जाने की बात सुन कर विचलित हो उठते। वे धीर थे, अतएव धर्मात्मा थे। भला जिनका मुखारविन्द राज्याभिषेक की बात सुन कर भी प्रफुल्लित नहीं हुआ था उनका मुख वनवास की, १४ वर्ष तक वन में रहने की, बात सुन कर कभी म्लान हो सकता है? कभी नहीं। न उन्हें राज्यप्राप्ति का हर्ष था और न वनवास का दुःख। वे दोनों अवस्थाओं में समान थे। केकयी के मुख से वन जाने की बात सुन कर रामचन्द्रजी ने कहा—

"अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान्धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यान्भरताय प्रचोदितः॥
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन्॥"

वा० रा०, काण्ड २, सर्ग १९॥

"मैं आपके या पिताजी के कहने मात्र से ही भाई भरत को राज्य ही क्या वस्तु है, सीता को और अपने प्राणों को भी दे सकता हूँ। मैं

भरत के लिए सर्वस्व दे सकता हूँ। और अब तो साक्षात् पिता महाराज की आज्ञा है, और आपका काम बनता है। देवि, आप महाराज को प्रसन्न कीजिए। मैं अभी वन जाता हूँ। बस देर इतनी ही समझिए कि मैं माता कौशल्या को एक बार प्रणाम कर आऊँ और सीता को समझा आऊँ। मुझे इस समय केवल इस बात का दुःख है कि इतनी छोटी सी बात के लिए पिताजी इतना दुःख क्यों उठा रहे हैं? यदि पिताजी मुझको अपने श्रीमुख से भी वन जाने की आज्ञा देते तो भी मैं बड़ी प्रसन्नता से उस आज्ञा का पालन करता। अस्तु, मैं आपकी आज्ञा को भी कम नहीं समझता। मैं अभी वन को जाता हूँ।"

इतना कह कर रामचन्द्रजी माता और पिता को प्रणाम करके कौशल्या के मन्दिर को चल दिये। जब लक्ष्मणजी को रामचन्द्रजी के वन जाने का समाचार मिला तब मारे क्रोध के उनका शरीर काँपने लगा। वे अग्नि के समान प्रज्वलित हो उठे।

रामचन्द्रजी के चले जाने पर राजा दशरथ "हा राम! हा राम!" कह कर मूर्च्छित हो गये। वे ऊँचे स्वर से रुदन करके विलाप करने लगे। उस समय राजा की बड़ी दयनीय दशा थी। वे कभी मूर्च्छित हो जाते थे और कभी सचेत हो कर रो रो कर विलाप करने लगते थे।

अहा! राजा दशरथ की धर्मात्मता को भी धन्य है। राजा दशरथ ने एक समय प्रसन्न होकर केकयी को दो वर दिये थे, पर हाय! वही वर राजा के लिए कालरूप हो गये। सत्यसन्ध राजा ने प्राणों की अपेक्षा अपने प्रियवर पुत्र को वनवास दे दिया। किस लिए? इस लिए कि कहीं उनकी स्त्री उनको मिथ्यावादी न समझ ले। कहीं उनका सत्य धर्म न बिगड़ जाय। राजा दशरथ की इस अश्रुतपूर्व सत्यप्रियता की हम कहाँ तक प्रशंसा करें। जो राजा रणक्षेत्र के

एकान्त स्थान में स्त्री के प्रति कही हुई बात के पूरा करने में यहाँ तक दृढ़प्रतिज्ञ हो कि प्राणसमान प्रिय पुत्र को भी वनवास दे दे, और वह भी दो चार महीने या वर्ष दो वर्ष के लिए नहीं पूरे चौदह वर्ष के लिए, ऐसी सत्यप्रियता दूसरे किसी राजा में आज तक नहीं देखी गई। इस अद्भुत लीला का वास्तविक भेद समझने के लिए तनिक विचार से काम लेना होगा। गहरा विचार करने से विदित होता है कि पूर्वकाल में हमारे भारतवर्ष में स्त्रियों की उचित प्रतिष्ठा होती थी। पहले लोग एकान्त में स्त्री से कही हुई बात को प्राणपण से पूरा करते थे। चाहे जगत् चूर्ण क्यों न हो जाय पर प्राचीन आर्य्य कभी सत्य से भ्रष्ट नहीं होते थे। प्राचीन लोगों की बातों को लिख कर न्यायालय में रजिस्टर्ड कराने की आवश्यकता नहीं होती थी। उनका न्यायालय उनका अन्तःकरण होता था। जो बात वे मुँह से निकालते थे वह पत्थर की लकीर हो जाती थी। चाहे पृथ्वी इधर से उधर हो जाय पर आर्य्य जन की बात नहीं पलट सकती। राजा दशरथ ने कैकयी के प्रति की हुई प्रतिज्ञा का जो पालन किया उससे राजा की सत्यप्रियता के अतिरिक्त स्त्रियों के सत्कार का भी एक अच्छा निदर्शन प्रतीत हो गया।

भला जब राजा दशरथ ऐसे थे तब उनके आत्मज श्रीरामचन्द्रजी में क्या कमी हो सकती थी। किम्बहुना, रामचन्द्रजी अपने पिता से कई गुना अधिक धर्मात्मा थे। इसमें अत्युक्ति का लेश भी नहीं है। यह सर्वथा सत्य है। रामचन्द्रजी के समान पितृभक्त पुत्र का दूसरा उदाहरण ढूँढने से भी नहीं मिलता। मिले कहाँ से कोई है ही नहीं। उन्होंने पिता के सत्यव्रत की रक्षा के लिए हाथ में आये हुए राज्यैश्वर्य्य को तृणवत् त्याग कर १४ वर्ष तक वन में बसना स्वीकार किया। इसी धर्मात्मता के कारण आज तक भी सारा जगत् उनको पूज्यभाव से स्मरण करता है। अस्तु।

अपनी माता कौशल्या के घर मे जा कर रामचन्द्रजी ने देखा कि माता देव-पूजा कर रही हैं और मन्त्र पढ़ पढ़ कर अग्नि मे आहुति डाल रही हैं। जिस समय रामचन्द्रजी ने माता के चरणों में मस्तक नवाया उस समय प्रेम मे विह्वल हो कर माता कौशल्या आसन से उठ खड़ी हुईं और पुत्र को कण्ठ से लगा कर उनका मस्तक सूँघने लगीं। उन्होंने रामचन्द्रजी के सिर पर हाथ फेर कर कहा कि पुत्र, आज बड़े मङ्गल का दिन है कि जो तुम्हारे पिता तुमको युवराज की पदवी देंगे। अपनी माता के भाव को समझ कर रामचन्द्रजी ने कहा—"माताजी, अब तुम आनन्द क्यों मना रही हो। तुम्हारे, सीता के और लक्ष्मण के लिए एक भारी आपत्ति आई है। वह यह कि पिताजी माता केकयी के कथनानुसार भरत को राजगद्दी देकर मुझको १४ वर्ष का वनवास देते हैं।" इतना सुनते ही कौशल्या के पैर तले से धरती निकल गई। वे निर्मूल लता की तरह धरती पर गिर पड़ीं। रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण की सहायता से उनको जैसे तैसे उठाया। जब बहुत देर में उनकी मूर्च्छा दूर हुई तब वे शोक में विकल होकर विलाप करने लगीं। थोड़ी सी देर में ही रामचन्द्रजी के वनवास का समाचार सारे राजमहल मे फैल गया। जिसने सुना उसी ने हाहाकार से आकाश को गुँजा दिया। चारों ओर से हाहाकार की ध्वनि ही सुनाई देती थी। उस हाहाकार के हृदयविदारक शब्द को सुन कर लक्ष्मणजी का क्रोधाग्नि और भी अधिक धधक उठा। वे रामचन्द्रजी और कौशल्या के सामने ही राजा दशरथ की भरपेट निन्दा करने लगे। वे कहने लगे कि महाराजा की बुद्धि बिगड़ गई है। वे स्त्री के वश में हो गये हैं। ऐसे स्त्रैणपरायण राजा की आज्ञा मानने की, हमारी सम्मति मे, कुछ भी आवश्यकता नहीं है। मैं अभी दशरथ, केकयी, भरत और इनके जितने सहायक हैं उन सब को क्षण भर में मारे डालता हूँ। क्या मेरे

रहते हुए ये लोग रामचन्द्रजी को वनवास दे सकते हैं ?" लक्ष्मणजी की ऐसी क्रोधभरी बातें रामचन्द्रजी को अच्छी न लगीं। उन्होंने कहा कि "भाई, तुम क्या कह रहे हो। पिता ही धर्म है। पुत्र के लिए पिता ही साक्षात् देवमय है। पिता के समान संसार में दूसरा कोई प्राणी पूज्य नहीं है। पिता की आज्ञा का पालन करना ही पुत्र का प्रधान धर्म है। जब हम पिता के धर्म की ही रक्षा न कर सके तब हमारे जीने का क्या फल ? भरत बहुत सुशील और नम्र हैं। उन्होंने हमारा क्या अपराध किया है ? देवी कैकयी हमारी पूजनीया माता हैं। उनकी निन्दा करने से हमको बहुत भारी अपराध लगता है।" इतना सुनते ही लक्ष्मणजी की आँखें नीची पड़ गईं।

जब कौशल्या को यह मालूम हुआ कि अब राम ने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली है। अब ये बिना वन जाये न मानेंगे तब उन्होंने कहा कि पुत्र, जो तुम वन जाते ही हो, मेरे कहने से भी नहीं रुकते, तो तुम्हारे साथ मैं भी वन को चलूँगी। परन्तु फिर रामचन्द्रजी ने माता को समझाया कि माताजी, पति के होते हुए स्त्री को कभी उससे अलग नहीं होना चाहिए। स्त्री के लिए पति ही गति है। पति की सेवा करना ही स्त्री का मुख्य धर्म है। मेरे वन चले जाने पर राजा को अत्यन्त दुःख होगा। और, यदि आप यहाँ न रहीं तो फिर पिताजी को कौन धीर बँधावेगा ? उनकी सेवा कौन करेगा ?

जब कौशल्या ने देखा कि ये अपनी प्रतिज्ञा के पालन करने से न हटेंगे, वन को अवश्य ही जायँगे, तब उन्होंने आँखों में जल भर कर रामचन्द्रजी को बहुत बहुत आशीर्वाद दिये और उनके कुशल-मङ्गल के लिए ईश्वर से बार बार प्रार्थना की। इस तरह माता को समझा बुझा और उनके चरणों को प्रणाम करके रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी के साथ सीताजी के मन्दिर को चल दिये।

मनुष्य भारी से भारी कष्ट को, दारुण से दारुण मन की पीड़ा को, तभी तक अपने हृदय में रख सकता है, तभी तक सह सकता है जब तक वह किसी आन्तरिक प्रेमी से नहीं मिलता। दुःख में धीर बँधाने वाले मित्र के सामने किसी से भी अपने मन का भीतरी भाव नहीं छिपाया जा सकता। घनिष्ठ मित्रता रखने वाले, सच्ची प्रीति करने वाले, अभिन्नहृदय जन के सामने अपना भीतरी भेद खोलना ही पड़ता है। अभिन्नहृदय प्रेमी के सामने, लाख उपाय करने पर भी आन्तरिक भाव छिपाया नहीं जा सकता, प्रकट हो ही जाता है। प्रकट करने की इच्छा न होने पर भी वह भाव रुक नहीं सकता, छिप नहीं सकता।

रामचन्द्रजी अब तक तो अपना भीतरी मनोभाव छिपाये रहे। राजा दशरथ के पास से वनवास की आज्ञा को शिरोधार्य करके लौटने, लक्ष्मणजी और माता कौशल्या देवी से मिलने और वहाँ से भी लौटने के समय तक रामचन्द्रजी अपने भाव को छिपाने में समर्थ रहे। इन स्थानों में उनका भीतरी भेद नहीं खुल सका। परन्तु जिस समय वे अपनी प्रेयसी सीतादेवी के मन्दिर के समीप पहुँचे उस समय उनकी और ही दशा हो गई। उनके हृदयमन्दिर में रुका हुआ शोकसागर, सीताजी के मन्दिर के द्वार पर पहुँचते ही, उमँड़ पड़ा। उनके नेत्रों में जल भर आया; मुख की आकृति बिगड़ गई और उनके हृदयक्षेत्र में नाना प्रकार के भावों का तुमुल युद्ध होने लगा। सीतादेवी, नियमपूर्वक ईश्वरपूजा करके अपने स्वामी के मङ्गल दर्शन की इच्छा से, आनन्द में भरी हुईं बैठी थीं। इतने में ही सामने अपने स्वामी को आता देख कर वे झट उठ खड़ी हुईं। परन्तु स्वामी के मलिन मुख की चिन्तित आकृति को देख कर वे खड़ी की खड़ी रह गईं। वे स्वामी के लज्जावनत मुख को देखते ही सहसा सहम गईं।

सीतादेवी सच्ची पतिव्रता और पतिप्राणा थीं। वे भला प्राणेश्वर की पीड़ा को कब सह सकती थीं। स्वामी को शोकसन्तप्त देख कर उन का हृदय काँपने लगा। वे व्याकुल होकर पूछने लगीं:—

"हे नाथ, विद्वान् ब्राह्मणों ने तो आज पुष्य नक्षत्र में आपके राजतिलक का मुहूर्त बतलाया था; आप इस समय इतने खिन्न क्यों हो रहे हैं? इस समय आपके सिर पर श्वेत छत्र नहीं है और न दोनों ओर सुन्दर चँवर डुल रहे हैं। सूत, मागध और वन्दीजन आपके चारों ओर मङ्गल-स्तुति क्यों नहीं करते? वेदपाठी ब्राह्मण लोग आपके मस्तक पर दही और अक्षत (चावल) क्यों नहीं डालते? आपके पीछे पीछे आपकी प्रजा क्यों नहीं चलती? आज आपके आगे आगे हाथी क्यों नहीं चलते? रथ क्यों नहीं चलता? आपके लिए सुवर्णाङ्कित चित्रयुक्त श्रोसन लेकर आपके सेवक आपके साथ क्यों नहीं चलते? जब आज आपका राजतिलक होने वाला था तब आप प्रसन्न क्यों नहीं दिखाई देते? आपका मुख उदास क्यों हो रहा है? ऐसे मङ्गल समय में भी आपका मुखारविन्द शोभाहीन क्यों हो रहा है? हे नाथ, शीघ्र कहिए, क्या बात है? आपकी मुखाकृति को देख कर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है!"

(वा० रा०, काण्ड २ सर्ग २६)

रामचन्द्रजी सीतादेवी के ऐसे कारुणिक विलाप-वचन सुन कर कहने लगे—"प्रिये, श्रीपूज्यपाद पिताजी ने मुझको १४ वर्ष का वनवास दिया है!" इतना कह कर रामचन्द्रजी ने वनवास मिलने का पूरा पूरा वृत्तान्त सीताजी से कह सुनाया। सारी कथा सुना कर उन्होंने अन्त में कहा—"प्रिये, अब मैं पिताजी की आज्ञा पालन करने के लिए वन जाता हूँ। बस, इसी लिए मैं एक बार तुमसे मिलने आया हूँ।"

रामचन्द्रजी ने उस समय सीताजी को बहुत कुछ उपदेश भी किया। उन्होंने कहा—"प्रिये, सुनो, मैं पिताजी की आज्ञा का पालन करने के लिए वन जाता हूँ। मेरे पीछे तुम यहाँ किसी प्रकार की चिन्ता मत करना। मेरे पीछे तुमको भी यहाँ भोगविलास की सामग्रियो का बर्ताव कम करके व्रत उपवास अधिक करने होंगे। तुमको भी मेरे पीछे मेरी तरह ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। तुम प्रतिदिन प्रात काल उठ कर सन्ध्या, अग्निहोत्र से निवृत्त होकर मेरे पूज्यवर श्रीपिताजी के चरणो को प्रणाम किया करना। मेरे वियोग में मेरी माता बहुत दु खित होगी। तुम उनकी सेवा शुश्रूषा करके उन को धीर बँधाती रहना। एक मेरी ही माता क्या, सुमित्रा और कैकयी भी तुम्हारे लिए वैसी ही पूज्या हैं। सभी माताओ की सेवा करना तुम्हारा धर्म है। प्राणप्रिय भरत और शत्रुघ्न को भ्राता और पुत्र के समान जानना। आज से भरत ही इस देश और वंश के राजा हो गये। देखना, कभी उनका बुरा मत चाहना। सदा ऐसा प्रयत्न करती रहना कि जिससे परस्पर मन मैला न हो। राजा को सदा प्रसन्न ही रखना चाहिए। यदि उनके विरुद्ध कोई काम किया जाय तो वे रुष्ट हो जाते हैं। अपराधी पुत्र को भी राजा लोग दण्ड देकर घर से निकाल देते हैं और हितकारी सुयोग्य मनुष्य का, चाहे वह ऊपरी ही क्या न हो, बहुत सम्मान करते हैं। इसी लिए, हे प्रिये, मैं कहता हूँ कि तुम सदा भरत की सम्मति में रहना। उनसे विरुद्ध होकर कभी कोई काम मत करना। वन जाते समय मैं तुमसे बस यही एक बात कहता हूँ कि जहाँ तक हो सके तुम मेरे कथनानुसार ही काम करना, अन्यथा नहीं। इसी में तुम्हारा कल्याण है और मेरी आज्ञा का मानना ही तुम्हारा धर्म है।"

(वा० रा० काण्ड २ सर्ग २६)

ईश्वर की इच्छा भी कैसी बलवती होती है। अभी घड़ी भर पहले सीतादेवी बैठी हुई अपने मन में सोच रही थीं कि मैं स्वामी के राजतिलक हो जाने पर महारानी कहलाऊँगी; परन्तु थोड़ी देर बाद उनकी वे आशायें, वे विचार, सब स्वप्नवत् हो गये। अभी जिनके लिए राजतिलक का उत्सव मनाया जाता था अब वही वन जाने के लिए तैयार खड़े हैं। संसार की यही विचित्रता, ईश्वर की यही बलवती इच्छा, क्षणभर में कुछ का कुछ कर डालती है। इसी बात को सोच कर कौन किस बात की स्थिरता में पक्का विश्वास कर सकता है? पल में क्या से क्या हो जाय—इसका किसी को कुछ भी ज्ञान नहीं। ईश्वर की इच्छा हो तो अभी कुछ का कुछ हो जा सकता है। इस बात का किस को पक्का विश्वास हो सकता है कि जो आज राजा है वह कल भिक्षुक नहीं बन सकता और जो आज अकिञ्चन है वह कल राज-राजेश्वर के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता? ईश्वर की इच्छा के अनुसार सभी बातें सम्भव हैं। संसार में किसी को अपनी प्रभुता का घमण्ड नहीं करना चाहिए। देखिए, रामचन्द्रजी को तो राजतिलक होने का कुछ हर्ष भी नहीं था। जब उनके लिए ही परमात्मा की इच्छा कुछ की कुछ हो गई तब सांसारिक विषय-भोगरूपी पङ्क में लिप्त अभिमानी जन के मानमर्दन के लिए परमात्मा क्या नहीं कर सकता? परन्तु हम ऐसे अवसर पर सीतादेवी को प्रणाम किये बिना नहीं रह सकते। हम पहले लिख चुके हैं कि सीतादेवी साधारण स्त्री नहीं हैं। यदि कोई साधारण स्त्री होती तो अपने स्वामी के मुख से राज्य के बदले वनवास का हृदयविदारक समाचार सुन कर उसका हृदय फट जाता, वह मूर्च्छित हो जाती और उसके मानसिक भावों में सहसा परिवर्तन हो जाता; वह उसी समय गगनभेदी रोदन से सारे राजमहल को कँपा डालती, कैकयी को करोड़ों गालियाँ सुनाती और उसके सिर के बाल

नोचने के लिए उसका नाक में दम कर देती। यदि कोई साधारण स्त्री ऐसी बात सुनती तो विधाता को सैकड़ों उलटी सीधी सुनाती और उसी को इस सारे बखेड़े का मुख्य दोषी ठहराती। और कोई साधारण स्त्री होती तो रामचन्द्रजी को इस दुःसह, किन्तु धर्मसम्बन्धी, काम के करने से विमुख कर देती। वह स्वार्थ मे पड़ कर अपने पति को ऐसे महत्त्व-पूर्ण धर्मकार्य्य से विरत कर देती। साधारण स्त्री ऐसे कठिन समय में आप तो अधीर होती ही पर साथ ही अपने स्वामी को भी धर्म-भ्रष्ट कर डालती। परन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि सीतादेवी साधारण स्त्री नहीं थीं। सीताजी अपने को भूल गई थीं। वे पति को ही अपना सर्वस्व समझती थीं। पति के मन और आत्मा मे अपना मन-आत्मा मिला कर वे एकरूपता को, तादात्म्य को, प्राप्त हो चुकी थीं। महारानी न बनने का सीताजी को लेश मात्र भी दुःख न था। उनको तो यह देख कर कि मेरे पति अपने पिता की आज्ञारूप धर्म का पालन करने के लिए प्रसन्नता से जारहे हैं, बहुत ही आनन्द हो रहा था। सीतादेवी ऐसी भारी आपत्ति आपड़ने पर भी विचलित नहीं हुईं। वे दुःख में अधीर न होकर उस समय अपने कर्तव्य के विषय में सोच रही थीं। उन्होंने बुद्धि को सावधान रख कर अपना कर्तव्य सोच लिया। जिस समय रामचन्द्रजी ने अपने वन जाने की बात सीताजी को सुनाई थी उन्होंने उसी समय अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया था। बस, यदि सीतादेवी को उस समय दुःख हुआ तो इसी बात का कि उनके स्वामी उनको भरतजी के आश्रय में छोड़ कर वन जाना चाहते हैं। बस, इसी बात से घबरा कर सीताजी कुछ कुपित हो गईं। परन्तु उनका वह कोप साधारण स्त्रियों के कोप के समान नीच भाव का कोप नहीं था। उनके कोप के भीतर पवित्रता और प्रेम भरा हुआ था।

सीतादेवी ने कहा—"नाथ, क्या आपने मुझको ऐसी नीच समझ रक्खा है कि जो इस तरह कहते हैं? आपकी बातों को सुन कर मुझको हँसी आती है। आपने मुझसे जो बात कही है वह आप जैसे वेद-शास्त्र पारग महावीर राजकुमार के कहने योग्य कदापि नहीं है। ऐसा कहने से आपकी भी निन्दा ही होती है। पिता, माता, भ्राता, पुत्र और पुत्रवधू ये सब अपने अपने कर्मों का फल-भोग करते हैं, परन्तु एक स्त्री ही ऐसी है कि जो अपने पति के भाग्य को भी भोगती है। बस, इसी लिए आपके लिए वनवास की आज्ञा होते ही मेरे लिए भी हो चुकी। मैं आपसे भिन्न नहीं हूँ। क्या पुरुष की छाया कभी पुरुष से भिन्न हो सकती है? और माता, पिता, भाई आदि तो अलग रहे, स्त्री अपना कल्याण अपने आप भी नहीं कर सकती। उसके लिए परम कल्याण का साधन, कल्याणस्वरूप और एकमात्र गति पति ही है। यदि आप आज वन के लिए प्रस्थान करेंगे तो मैं भी आपके आगे आगे चलूँगा। यह बात मैं केवल अपनी इच्छा से ही नहीं कहती, किन्तु शास्त्रों में भी ऐसा ही लिखा है। और मेरे माता-पिता ने भी बचपन में मुझे यही उपदेश दिया था। अतएव मैं आपका साथ नहीं छोड़ सकती। मैंने तो कभी आपका कोई अपराध भी नहीं किया। फिर आप मुझको यहाँ छोड़ कर ऐसा असह्य दण्ड क्यों देना चाहते हैं? मैं आपके साथ निर्जन वन में भी सुखी रहूँगी। वह भयकर वन मुझको सुखदायक ही होगा। मैं त्रिलोकी का सुख नहीं चाहती। मैं चाहती हूँ केवल आपका सहवास। आपके साथ रहने से ही मुझको सच्चा सुख मिल सकता है। आपको छोड़ कर, आपसे अलग रह कर, मैं स्वर्ग का भी सुख नहीं चाहती। मैं वन में नित्य फल-मूल खाकर ही रहूँगी। आपको कभी किसी बात के लिए दुःख न दूँगी। मैं घोर वन में भी आपके चरणों की सेवा करती हुई पिता के घर में रहने के समान

सुख मानूँगी। मेरे ले चलने में आपको कुछ भार न होगा। मैं आपके बिना यहाँ क्षण-मात्र भी जीवित नहीं रह सकती। मैं आपके आगे आगे कुश-कण्टक दूर करती हुई चलूँगी। जिस प्रकार निर्जल देश अथवा मरुभूमि का यात्री पीने से बचे हुए कमण्डलु के जल को फेंक नहीं देता, उसे अपने साथ ही ले जाता है, इसी प्रकार आप भी मुझको अपने साथ ही ले चलिए; यहाँ न छोड़िए। मुझमें कोई पाप नहीं कि जो आप मुझे अपने साथ नहीं ले जाते। आप वीर हैं। यदि आप मुझे अपने साथ वन न ले जायँगे तो लोग क्या कहेंगे? सम्भव है कुछ लोग आप की वीरता में त्रुटि समझने लगें।" (वा० रा० काण्ड २, सर्ग २७)

पाठक, देखिए, सीतादेवी ने अपने कर्तव्य को कैसी अच्छी तरह से पहचाना! उन्होंने अपने स्वामी के वनगमन का समाचार सुनते ही कह दिया कि बस इसी आज्ञा के साथ मेरे लिए भी आज्ञा हो चुकी। जहाँ स्वामी वहाँ उनकी सहचारिणी पत्नी। सीतादेवी की यह कैसी स्वाभाविक उक्ति है। सीतादेवी के इस कथन से कि "मैं आपके आगे आगे कुश-कण्टकों का चूर्ण करती हुई चलूँगी"—कैसा अद्भुत पति-प्रेम झलकता है! मतलब यह कि यदि मार्ग में कोई काँटा या कंकड़ पड़ा होगा तो पहले मेरे पैर में लग कर टूट जायगा, आपके पैरों में न लगेगा। सीताजी का यह कथन कि मार्ग में आगे पड़े हुए कुश-कण्टकों को या तो मैं उठा कर फेंकती चलूँगी और या उन्हें अपने पैरों से कुचलती रहूँगी, पर आपके कोमल चरणों को उनके कठिन आघातों से दूर ही रक्खूँगी, कैसा अच्छा भाव है! कैसी प्रेमभरी उक्ति है! पातिव्रत का कैसा अच्छा निदर्शन है! यात्री के जल ले जाने की बात कह कर सीताजी ने मर्मस्पर्शी करुणरस और प्रेम की पराकाष्ठा दिखा दी।

सीतादेवी बड़ी बुद्धिमती और दूरदर्शिनी थीं। उन्होंने, इस विचार से कि कहीं स्वामी वन के क्लेशों को दिखा कर मुझे स थ

चलने के लिए मना करने लगें, कहा—"हे जीवननाथ, मेरी आन्तरिक इच्छा भी यही है कि मैं सिंह, व्याघ्र आदि जङ्गली जीव-जन्तु से भरे हुए वनों में तपस्विनियों का सा वेश बना कर रहूँ और वहीं प्रति दिन आप की चरण-सेवा करूँ। मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे सरोवरों—जलाशयों—में स्नान करूँ कि जहां कमल खिल रहे हों, भौंरे गुञ्जार रहे हों और हंस बोल रहे हों। मैं वहीं बन्दरों, हाथियों और रीछों के वनों में रह कर आपके चरण-कमलों की सेवा करना चाहती हूँ। मुझे वहां पिता के घर से कम आनन्द न मिलेगा। मैं आपकी आज्ञा का पालन करती हुई नाना प्रकार के पर्वतों और वनों का दर्शन करके अपने जीवन को सफल समझूँगी। मुझे पूरा विश्वास है कि आपके साथ रहने में मुझ को किसी प्रकार का कष्ट न होगा। मैं आपके साहस को अच्छी तरह जानती हूँ। मैं आपके बल को अच्छी तरह पहचानती हूँ। मैं आपकी शक्ति का अच्छी तरह परिचय रखती हूँ। इसी लिए मुझको दृढ़ आशा और विश्वास है कि आप अकेली मेरा ही क्या, सैकड़ों प्राणियों का पालन-पोषण अकेले ही कर सकते हैं। इसी लिए मैं आपका साथ नहीं छोड़ूँगी। मैं आपकी छाया हूँ। मुझे आप किसी प्रकार भी अलग नहीं कर सकते। मैं पहले ही कहे देती हूँ कि मैं वन में आपसे अच्छे अच्छे खाद्य पदार्थ न माँगूँगी; वन-फल खा कर ही निर्वाह कर लूँगी। सुन्दर रेशमी कपड़ों के लिए मैं आपको कभी कष्ट न दूँगी। मैं सादे कपड़े पहन कर ही अपने जीवन को कृतार्थ समझूँगी। इसी तरह आपके साथ रह कर मेरा भी समय सुखपूर्वक व्यतीत होजायगा।"

(वा० रा० काण्ड २, सर्ग २७)

हम पहले ही काण्ड में लिख चुके हैं कि सीतादेवी को प्राकृतिक सौन्दर्य्य-दर्शन की लालसा बचपन से ही थी। उन्होंने अपने पिता के यहाँ ऋषि-मुनियों के द्वारा तापस आश्रमों की कथायें बहुत सुनी

थीं। उसी समय से उनके मन में वन्य आश्रमों के दर्शन की उत्कण्ठा प्रबल हो रही थी। इसी लिए अब वे पति के साथ वन्य आश्रमों में तपस्विनी की तरह रह कर अपनी बाल्य-काल की इच्छा को पूरा करना चाहती हैं। अब बहुत ही अच्छा सुयोग उनके हाथ लगा है। परन्तु सीताजी को अभी तक यह मालूम नहीं कि वन में रहना बहुत दुःखदायी है। उन्होंने अभी तक जो कुछ सुना है वह इतना ही कि वन में तपस्वियों के आश्रम बहुत सुहावने होते हैं, आश्रमों के आस-पास के उपवन बड़े मनोहर होते हैं; वहां नाना प्रकार के पशु, पक्षियों की सुन्दर मीठी वाणी सुनने में आती हैं। उन्हे यह नहीं मालूम कि वन मे ऐसे ऐसे भयंकर जीव रहते हैं कि जिनकी भयंकर गर्जना को सुन कर बड़े बड़े धीर पुरुषों का भी कलेजा कांप उठता है। इन्हीं सब बातों को सोच और मन में वन के क्लेशों को याद करके राम-चन्द्रजी ने सीताजी को साथ ले जाना स्वीकृत न किया।

रामचन्द्रजी ने वन के अनेक क्लेशों का वर्णन करने की इच्छा से सीताजी को बहुत कुछ उपदेश किया। उन्होंने कहा—"प्राणप्रिये, वन में एक नहीं अनेक क्लेश सहने पड़ेंगे। वहां पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले सिंह रात दिन गर्जा करते हैं; अनेक भयानक जीव-जन्तु वहां दिन रात खुले मैदान सब जगह फिरा करते हैं; वही जीव-जन्तु हम लोगों को वहां अकेला देख कर खा जायँगे। मतवाले खूनी हाथियों से बचना वहां सहल काम नहीं। वहां का मार्ग भी सुगम नहीं, महादुर्गम है। वहां प्यास लगने पर सब जगह जल भी नहीं मिलता। वहां दिन भर चलना और सायंकाल होने पर किसी वृक्ष के नीचे पत्तों की शय्या पर ही सोना पड़ेगा। भूख लगने पर वृक्षों से गिरे हुए फलों का भोजन और झरनों या नदियों का पानी पीना होगा। प्रति दिन तीनों काल का स्नान करना होगा। अपने ही हाथ से फूल आदि

लाकर अग्निहोत्र का सब सामान तैयार करना होगा। वानप्रस्थ-आश्रम के सब धर्मों का पालन करना होगा। वन में ऐसे ऐसे भयंकर सांप रहते हैं कि मार्ग में मुँह फैला कर बैठ जाते हैं और जो उस मार्ग से आता है उसी को वे हड़प कर जाते हैं। मच्छरों का तो कुछ कहना ही नहीं। उनका तो वहां घर ही है। उनसे तो रात दिन पीछा छुड़ाना भारी हो जाता है। कहां तक कहें, वन में असंख्य दुःख हैं। इसी लिए मैं कहता हूँ कि वन में सुख का नाम नहीं। जहां देखो, वहीं दुःख। इसलिए तुम वहां न जाओ। वनवास के कठिन दुःख तुमसे न भोगे जायँगे।" (वा० रा० काण्ड २ सर्ग २८)

रामचन्द्रजी के वचनों को सुन कर सीतादेवी की आँखों से आंसू बहने लगे। वे बड़ी दुःखित हो कर बोलीं—"नाथ, आपने वन में रहने के जितने दोष बतलाये हैं वे सब आपके साथ स्नेहपूर्वक रहने से गुण ही हो जायँगे। और आपने सिंह, व्याघ्र, हाथी और सांप आदि जीव-जन्तुओं से जो भय दिखलाया है मुझे उनसे कुछ चिन्ता नहीं। क्योंकि बनैले जीव आपके प्रियदर्शन रूप को देखते ही निर्वैर हो जायँगे। मैं अवश्य आपके साथ जाऊँगी। आपके विना मैं यहां जीवित नहीं रह सकती। आपके पास, आपकी संरक्षकता में, रहती हुई मुझको और तो क्या, देवराज इन्द्र भी कुदृष्टि से नहीं देख सकता। जब मैं अपने पिता के घर थी तब मैंने बचपन में ब्राह्मणों के मुँह से सुना था कि मुझ को वन में रहना पड़ेगा। अब ब्राह्मणों के वे वचन भी सत्य होने चाहिएँ। मैं वनवास के दुःखों को भी अच्छी तरह जानती हूँ। पर वे दुःख उन्हीं लोगों को भोगने पड़ते हैं जो जितेन्द्रिय नहीं होते। जब से मैंने अपने पिता के घर अपने वनवास भोगने की भविष्यवाणी सुनी थी तभी से मेरे जी में वन में बसने की प्रबल उत्कण्ठा हो रही थी। अब उस इच्छा के पूरा होने का समय आ गया। स्त्री का धर्म ही पति की

सेवा है। जब आप वन चले जायँगे तब यहाँ मैं आपकी सेवा क्योंकर कर सकूँगी। ऐसी पतिव्रता नारी को भी आप अपने साथ नहीं ले जाना चाहते, इसका कारण ते बतलाइए? यदि आप मुझको अपने साथ वन न ले चलेंगे तो, स्मरण रखिए, मैं जल मे डूब मरूँगी, विष खाकर प्राण त्याग दूँगी या अग्नि मे गिर कर भस्म हो जाऊँगी।''

(वा० रा० काण्ड २, सर्ग २९)

इतना कहते कहते सीताजी की वाणी रुक गई। कुछ क्रोध से उनका मुख लाल हो गया।

सीताजी ने बहुत प्रकार से रामचन्द्रजी की सेवा में प्रार्थना की परन्तु उन्होंने उनको अपने साथ वन ले जाना स्वीकार न किया। इस पर सीताजी को बहुत दु:ख हुआ। उनके आँसुओ से उनका वक्ष स्थल तर हो गया। जब सीताजी को किसी प्रकार भी सफलता प्राप्त न हुई तब उन्होंने एक और ही युक्ति निकाली। उन्होंने प्रीति और अभिमान मे भर कर महावीर रामचन्द्रजी की हँसी करनी आरम्भ कर दी। उन्होंने कहा—''नाथ, यदि हमारे पिता आपको ऊपर से पुरुष और भीतर से स्त्री—कायर—समझते तो मुझे कदापि आपके हाथ में न सौंपते। जो उन्हें यह मालूम हो जाता कि आप इतने भीरु हैं तो वे आपके साथ मेरा ब्याह कभी न करते। लोग तो आपके तेज और बल की ऐसी प्रशसा किया करते थे, परन्तु आज वे सब बातें स्वप्नवत हो गई। मैं आपको सत्यवान् समझती हूँ और आप मुझको सावित्री समझिए। मैं आपका साथ नहीं छोड सकती। मैं पतिव्रता हूँ। मुझे मेरे माता पिताओं ने पातिव्रत धर्म की शिक्षा दी है। मुझे वह शिक्षा याद है। मैं अपने धर्म के पालन करने के लिए आपके साथ चलूँगी। आपको मुझे त्यागना उचित नहीं। वन में जितने दु:ख आपने बतलाये और जो नवलाने को बच रहे वे सब मुझे स्वीकार हैं। वहाँ फल,

मूल और कंद जो कुछ मिल जायगा वही मुझे अमृत के समान होगा। इन बातों की तो आप चिन्ता ही न कीजिए। मैं नहीं जानती कि आप मुझ निरपराधिनी, पतिव्रता और पतिप्राणा नारी को यहाँ क्यों छोड़े जाते हैं ? मैं ऐसी वैसी स्त्री नहीं हूँ। मैं आपको छोड़ कर और किसी दूसरे पुरुष का दर्शन स्वप्न मे भी नहीं करूँगी। इसी लिए मैं कहती हूँ और निश्चय करके कहती हूँ कि मैं आपके साथ वन को अवश्य चलूँगी।" (वा० रा० काण्ड २, सर्ग ३०)

पाठक, देखिए, जिस समय रामचन्द्रजी ने सीताजी से कहा कि जब तक हम वनवास पूरा करके लौटें तब तक तुम यहीं भरत के अधीन रहो। बस यही बात सीताजी के कलेजे में तीर की तरह चुभ गई। उनको असह्य कष्ट हुआ। उन्होंने दुःखित होकर कहा—"नाथ, यह आपने क्या कह डाला ! चाहे आप भरत के अधीन होकर रहिए, पर आप इस विषय में मुझ को बाधित नहीं कर सकते। मैं भरत के क्या, आप के अतिरिक्त, और किसी के भी वश मे नहीं रहना चाहती। मैं आपसे बार बार कहती हूँ, आप निश्चय मानिए, मैं आपके साथ चलूँगी। मुझे तो आपके साथ रहना ! चाहे वन हो चाहे स्वर्ग। कहीं भी चलिए, मैं आपके साथ हूँ। जिस समय मैं आपके साथ चलूँगी उस समय वह दुर्गम वनमार्ग भी मेरे लिए सुखदायक हो जायगा। मुझे मार्ग चलने की कुछ भी थकावट न होगी। वनमार्ग मे पड़े हुए कुश-कंटक मुझे रुई के समान कोमल मालूम होंगे। प्रबल वायुवेग से उड़ी हुई धूलि जब मेरे अंगों मे लगेगी तब मैं उसे चन्दन और केसर समझूँगी। वन की पर्णशय्या ही मेरे लिए कोमल रेशमी बिछौने की शय्या से भी अधिक सुखदायक होगी। हे नाथ, आपके साथ वन में मुझे किसी तरह का भी कष्ट नहीं होगा।"

(वा० रा० काण्ड २, सर्ग ३०)

स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि पति के घर रहते रहते जब उनको बहुत दिन हो जाते हैं तब बीच बीच में अपने माँ-बाप के ' र जाने को वे प्रायः हठ किया करती हैं। उस समय रामचन्द्रजी के मन में भी यही शङ्का उठने लगी। वे मन ही मन सोचने लगे कि कहीं मैं इनको अपने साथ वन ले जाऊँ और ये वहाँ अपने माता-पिता को याद करने लगें और उनके पास जाने को हठ करने लगें तो बड़ी गड़-बड़ होगी। उ्होंने इतना सोचा ही था कि इतने मे सीताजी कहने लगीं—"नाथ, मैं वन में न माता को याद करूँगी न पिता को। मैं कोई बात ऐसी न कहूँगी, कोई काम ऐसा न करूँगी जिससे आपको कुछ भी कष्ट हो। जहाँ आप हैं, मेरे लिए वहीं स्वर्ग है और आपका वियोग हो महानरक है। आप निश्चय जानिए, मैं आपके बिना जीवित नहीं रह सकती। चौदह वर्ष तो क्या, मैं घड़ी भर भी आपके बिना जीवित नहीं रह सकती।" इतना कहना था कि स्नेह में व्य कुल होकर सीतादेवी रामचन्द्रजी के गले में हाथ डाल, फूट फूट कर रोने लगीं।

दयानिधि रामचन्द्रजी से सीताजी की वह कारुणिक दशा और न देखी जा सकी। उनके रुदन को देख कर रामचन्द्रजी का भी हृदय उमड़ने लगा। उनके भी दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा बह निकली। उन्होंने भी सीताजी के कण्ठ में हाथ डाल कर कहा—"देवि, मैं तुम्हारे कष्ट को नहीं देख सकता। तुम्हारी यह कारुणिक दशा मुझ से और नहीं देखी जाती। मैं तुमको पीड़ा देकर स्वर्ग की भी कामना नहीं करता। डर की बात तुम क्या कहती हो। मुझे कहीं भी किसी बात का डर नहीं। मैं निर्भय हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हारी रक्षा अच्छी तरह कर सकता हूँ। मैंने तुम्हारी आन्तरिक इच्छा के जानने के लिए ही अभी तक ले जाना स्वीकार न किया था। अब मैंने अच्छी तरह

समझ लिया कि तुम मेरे साथ वन जाने को तैयार हो। अब मैं प्रसन्नता से कहता हूँ कि तुम भी मेरी तरह अपने धर्मपालन में दृढ़-संकल्प हो जाओ। हे प्रिये, तुमने जो बात कही है, तुम जो काम चाहती हो, वह बहुत ठीक है। तुमको यही करना चाहिए। तुम्हारा यही धर्म है। हमारे और तुम्हारे दोनों के कुल की प्रतिष्ठा इसी में है। बहुत अच्छा अब तुम भी वनगमन की तैयारी करो। तुम भी अपने वस्त्र, आभूषण, धन, रत्न, अन्न आदि सब पदार्थ ब्रा णों को दान कर दो। शीघ्रता करो। आज ही वन की यात्रा करनी होगी।"

(वा ० का०ण्ड २ सर्ग ३०)

जिस समय रामचन्द्रजी ने सीताजी को अपने साथ वन ले जाने को कहा उस समय सीताजी को असीम आनन्द हुआ। अन्त में प्रेम का ही विजय हुआ। सीताजी के विशुद्ध प्रेम े सामने रामचन्द्रजी को भी हार माननी पड़ी। स्वामी की आज्ञा ़ र सीताजी अपने धनरत्न ब्राह्मणों को दान करने लगीं।

जिस समय रामचन्द्रजी और सीताजी की ातें हो रही थीं उस समय लक्ष्मणजी भी उनके साथ थे। वे उनकी ब बातें सुन रहे थे। जब रामचन्द्रजी ने सीताजी को अपने साथ ले चलना स्वीकार कर लिया और लक्ष्मणजी को यह निश्चय हो गया कि अब ये अवश्य ही वन जायँगे तब उन्होंने हाथ जोड़ कर बड़ी नम्रता से कहा—"भइयाजी, यदि आपने वन जाने का विचार दृढ़ ही कर लिया है तो मुझे चिरसङ्गी सेवक को भी साथ लेते चलिए।" लक्ष्मणजी के विनय-वचनों को सुन कर रामचन्द्रजी ने उनको भी बहुत समझाया, परन्तु वे भी भ्राता के अनन्य भक्त थे। भला जो बाल्यकाल से ही अपने बड़े भाई के साथ रहते थे, उन्हीं के साथ खाते-पीते थे और जहां कहीं वे जाते वहीं वे भी जाते थे तब १४ वर्ष के लिए वे उनको कैसे छोड़ सकते

थे? अन्त में रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को भी अपने साथ चलने की आज्ञा दे दी।

लक्ष्मणजी भी अपने बहुत से धन-रत्नों को दान करके वन जाने को तैयार हो गये। वन जाने के लिए तैयार होकर तीनों जने राजा दशरथ के पास विदा माँगने को चले। शोक! जिन सीतादेवी को साधारण जन कभी नहीं देख सकते थे वही अब पति और देवर के साथ पैदल जा रही हैं। उनको देख कर सारे नर-नारी और बालक हाहाकार करने लगे। सबने राजा दशरथ और केकयी को बहुत कुछ बुरा भला कहा। इन तीनों को सामने आता देख कर राजा दशरथ शोक में अत्यन्त विह्वल होकर ऊँचे स्वर से विलाप करने लगे। कौशल्या आदि रानियां भी शोकातुर होकर रुदन करने लगीं। फिर रामचन्द्रजी ने राजा दशरथ के चरणों में प्रणाम करके वन जाने के लिए उनसे विदा मांगी। राजा दशरथ ने अत्यन्त शोकाकुल होकर उन को आज्ञा दी। परन्तु इतने पर भी दुष्टा केकयी ने उनके पहनने के लिए मुनियों के से चीर-वल्कल ला दिये। रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी ने उनको तुरन्त पहन लिया। परन्तु उन चीर-वल्कलों को हाथ में लेकर भोली भाली सीताजी खड़ी की खड़ी ही रह गई। कारण यह कि वे उनका पहनना नहीं जानती थीं। राजमहलों में रहने वाली राजपुत्री और राजपुत्रवधू भला तपस्विनियों के से चीर-वल्कलों का पहनना क्या जानें। इसलिए उन्होंने उन चीरों को रेशमी सारी के ऊपर ही पहन लिया। इस घटना को देख कर वशिष्ठ आदि मुनि-जन और मन्त्री लोग बहुत दुःखित हुए। वे जानकीजी को चीर धारण करने के लिए मना करने लगे। उस समय राजा दशरथ ने १४ वर्ष के लिए उपयोगी वस्त्र, आभूषण मँगवा कर सीताजी को दिला दिये। तदनन्तर तीनों ने एक एक मनुष्य से विदा मांगी। जब लक्ष्मणजी ने

अपनी माता सुमित्रा से विदा माँगी तब सुमित्रा ने बड़ी प्रसन्नता से आज्ञा दी। उन्होंने चलते समय लक्ष्मणजी से कहा "पुत्र, तुम आनन्दपूर्वक वन जाओ। तुम वन को ही अयोध्या समझना, रामचन्द्र को पिता के स्थान में मानना और सीता को माता समझना।"

जब सीताजी ने कौशल्या के सामने हाथ जोड़ कर विदा माँगी तब कौशल्या ने उनको गले से लगा लिया। कौशल्या की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी, उन्होंने धैर्य धारण करके सीताजी को कुछ उपदेश देना आरम्भ किया। उन्होंने कहा, "वत्से, देखो, स्त्रियों का धर्म है कि पति चाहे जिस दशा में हो, उसका मान सदैव समान करना चाहिए। जो स्त्री सम्पत्ति में तो पति का आदर करती है और विपत्ति में नहीं करती, इस लोक में उसकी निन्दा होती है और परलोक में भी अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ सदा पति की सेवा किया करती हैं। पति चाहे किसी दशा में क्यों न हो स्त्री के लिए सदा देवस्वरूप है। सती स्त्रियाँ वस्त्रों में मन नहीं लगातीं, आभूषणों में आसक्त नहीं होतीं किन्तु उनका मन सदैव पतिसेवा में लगा रहता है। उनका चित्त सदैव पति की आज्ञा पालन करने में उत्सुक रहता है। पतिशुश्रूषा से अधिक स्त्री का दूसरा उत्तम भूषण नहीं है। जो स्त्री अपने कुल की मान-मर्यादा बढ़ाती है, सदा स्वधर्म-पालन में उद्यत रहती है वही साध्वी, पतिव्रता और सती कहला कर इस लोक में कीर्ति और परलोक में अनुपम सुख-सौभाग्य पाती है। पति की आराधना ही सती स्त्री का एकमात्र प्रधान कर्तव्य है। देखो, रामचन्द्र राजगद्दी के बदले वन में भेजा जाता है, कभी भूल कर भी उसका निरादर मत करना। पति चाहे महादरिद्र क्यों न हो पर स्त्री के लिए वह देवरूप ही है।" (वा० रा० काण्ड २, सर्ग ३९)

कौशल्या के उपदेश को शान्तिपूर्वक सुन कर सीतादेवी ने बड़ी

नम्रता से कहा—"आर्य, आपने मुझे जो उपदेश दिया है, मैं तदनुसार ही बर्ताव करूँगी। पतिव्रता स्त्रियों को क्या क्या करना चाहिए, यह मैंने शास्त्रों में पढ़ा है और विद्वानों से सुना भी है। पातिव्रत धर्म की शिक्षा मुझे मेरे माता-पिताओं ने बचपन में ही दी थी। उनकी शिक्षा मुझे याद है। जिस तरह चन्द्रमा में से किरणें अलग नहीं हो सकतीं, अग्नि में से दाहक गुण नष्ट नहीं हो सकता और जल में से आर्द्रता कभी नहीं जाती इसी तरह मुझमे से धर्म अलग नहीं हो सकता। मैं कभी धर्म को छोड़ नहीं सकती। मैं जानती हूँ कि पिता, माता, भाई आदि जितने स्वजन हैं वे सब परिमित ही धन देते हैं, परन्तु स्वामी अपनी स्त्री को अपरिमित धन देता है। भला मैं ऐसे देवरूप पति का क्यों न आदर करूँगी? मैं पति को ही देवता समझती हूँ। मैं कभी अपने धर्म से पतित न हूँगी।"

सीताजी के कथन को सुन कर कौशल्या के मन में बहुत आनन्द हुआ। इतने में ही सुमन्त रथ तैयार करके ले आया। रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी को रथ पर चढ़ा कर आप भी उस पर सवार हो लिये। रामचन्द्रजी की आज्ञा पा कर रथ चल पड़ा। तीनों को वन जाते देख कर क्या बालक, क्या बूढ़े सभी अयोध्यानिवासी हाहाकार करने लगे। उन लोगों का रामचन्द्रजी में इतना प्रेम था कि उनके बिना अपने को अनाथ देख कर सब लोग रुदन करते हुए उनके रथ के पीछे पीछे भागने लगे।

रामचन्द्रजी ने पीछे को मुँह करके देखा तो अयोध्यावासी नर-नारियों का बड़ा भारी समूह शोक में व्याकुल हाहाकार करता हुआ रथ के पीछे पीछे चला आ रहा है। रामचन्द्रजी ने उनको लौटाने के लिए बहुत कुछ कहा सुना, पर उन्होंने उनकी एक न मानी। वे बराबर रोते चिल्लाते रथ के पीछे पीछे दौड़ते चले ही आये। वे लोग

रोते रोते कहते जाते थे कि जब अयोध्या में हमारे हितैषी रामचन्द्रजी ही नहीं रहे तब हम लोग यहां रह कर क्या करेंगे। सच्चा प्रेम इसी का नाम है। सच्चे मित्रों का यही काम है। प्रेम की कसौटी आपत्काल ही है। ऐसे समय में जो बन्धु-बान्धव, जो इष्ट-मित्र, जो स्वजन-परिजन किसी का साथ देते हैं, किसी की सहायता करते हैं, वही सच्चे बन्धु-बान्धव हैं; वही पक्के इष्ट-मित्र हैं और वही हितकारी स्वजन-परिजन हैं।

अपनी प्रजा की ऐसी अनुपम भक्ति देख कर रामचन्द्रजी के नेत्रों से अश्रुजल-धारा बह निकली। उस समय उन्होंने और कुछ न कह कर रथ को शीघ्रगति से चलाने की आज्ञा दे दी। रथ और भी शीघ्रगति से चलने लगा। रथ की ऐसी शीघ्रगति हो जाने पर भी प्रजाजनों ने साहस न छोड़ा। वे फिर भी पूर्ववत् दौड़ते रहे। साधारण जनों की तो बात अलग रखिए, वृद्ध ब्राह्मणों की यह दशा थी कि जब वे भगते भगते थक गये, उनसे और न दौड़ा गया तब एक जगह रुक कर वे ऊँचे स्वर से रोने लगे। उनकी वह कारुणिक दशा देख कर रामचन्द्रजी का हृदय दयार्द्र हो गया। वे सीताजी और छोटे भाई के साथ रथ से उतर कर पैदल चलने लगे। इसी तरह चलते चलते तमसा नदी के किनारे जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही दिन छिप गया। सन्ध्या हो गई। सुमन्त्र ने थके हुए घोड़ों को खोल कर दाना-पानी दिया। इतने में ही सन्ध्या का इतना बल बढ़ गया कि चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। जो पदार्थ दिन में स्पष्ट दिखाई पड़ते थे वे अब अन्धकारमय हो गये। अन्धकार ने सब पदार्थों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। चहचहाती हुई चिड़ियों ने सहसा मौन धारण कर लिया। तमसा का कृष्णवर्ण जल भी अन्ध-

[illegible]

आये थे वे सब तमसा के रमणीय तट पर आ आ कर बैठने लगे। एक तो वे लोग विरह में व्याकुल थे और दूसरे मार्ग चलने के श्रम से थक गये थे। उनकी दशा बड़ी ही दयनीय थी।

तमसा नदी के किनारे सब लोग रामचन्द्रजी को घेर कर बैठ गये। थके तो थे ही; बस शनैः शनैः सब लोग गाढ़-निद्रा की गोद में पड़ कर अचेत हो गये। सब के सो जाने पर सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ, तमसा के किनारे बैठ कर रामचन्द्रजी विषाद करने लगे। वे शोकार्त पिता को, विलाप करती हुई माताओं को, दुःखार्त स्वजनों को और प्रेमविह्वल अयोध्यानिवासियों को याद करके अपने कोमल हृदय को दग्ध करने लगे। उस समय दोनों भाइयों और सीताजी का हृदय दुःख से व्याकुल हो उठा। जैसे तैसे उस प्रज्वलित शोकाग्नि को कुछ कम करके उन तीनों ने सन्ध्यावन्दना की। नित्यकर्म कर चुकने पर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी से कहा—"भाई, आज वनवास की यह पहली रात्रि है। अभी इसी तरह १४ वर्ष बिताने होंगे। आज की पहली रात्रि हम तमसा के तट पर ही व्यतीत करेंगे। यद्यपि इस स्थान पर फल-मूलों की कमी नहीं है तथापि हमारी इच्छा है कि आज हम उपवास करें। आज कुछ न खायँ और केवल जलपान करके ही रह जायँ।"

तदनन्तर लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी के लिए पत्तों की सुन्दर शय्या बना कर तैयार करदी। रामचन्द्रजी और सीताजी उस पर्णशय्या पर सो गये। परन्तु सुमन्त्र और महाबली लक्ष्मणजी दोनों रात भर रामचन्द्रजी के गुणकीर्तन करते रहे। वे एक क्षण भर भी नहीं सोये। भला लक्ष्मणजी जैसे भ्रातृसेवी महात्मा को भाई की सेवा और उनके गुणवर्णन करते हुए कभी नींद आ सकती थी? कभी नहीं।

प्रातःकाल मुँह अँधेरे ही रामचन्द्रजी जाग उठे। उन्होंने जाग

कर देखा कि अभी तक अयोध्यानिवासी सब लोग नींद में अचेत पड़े हैं। रामचन्द्रजी, उनके जागने से पहले ही, सीताजी और लक्ष्मणजी को साथ लेकर वहाँ से चल दिये। वे रथ को ऐसे वेग से लिवा ले गये कि क्षण भर में बहुत दूर निकल गये। वहाँ कोशल देश की सीमा पर एक नदी थी। उसका नाम था वेदश्रुति। उसको पार करके राम-चन्द्रजी सीधे दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े। इसी तरह चलते चलते गोमती और स्यन्दिका नदी को पार करके वे महासमृद्धशाली शृंगवेर-पुर के समीप जा पहुँचे। उसी शृंगवेरपुर के समीप त्रिपथगामिनी, कलनादिनी श्रीभागीरथी गंगा बहती थी। उसी सुरजन-मनमोहिनी सुरम्य-तटशोभिनी जाह्नवी की शोभा देखते और सीताजी को दिखाते हुए रामचन्द्रजी को एक वृक्ष दिखाई दिया। वह वृक्ष इङ्गुदी का था। उसी वृक्ष के नीचे ठहर कर रात बिताने के विचार से रामचन्द्रजी ने सुमन्त्र को वहीं रथ खड़ा करने की आज्ञा देदी। रथ वहीं खड़ा कर दिया गया और वे सब उस वृक्ष के नीचे बैठ कर विश्राम करने लगे।

शृंगवेरपुर के राजा का नाम गुह था। वह निषाद भील-जाति का राजा था। वह रामचन्द्रजी का बचपन से ही मित्र था। जब उसने अपने मित्र रामचन्द्रजी के आने का समाचार सुना और उसको यह विदित हुआ कि वे मेरे ही राज्य में आकर उतरे हैं तब उसके आनन्द की सीमा न रही। वह सुनते ही अपने प्रधान प्रधान मन्त्रियों और वृद्धजनों को साथ लेकर रामचन्द्रजी के पास आया। वह मित्र के आतिथ्यसत्कारार्थ बहुत से स्वादिष्ट मधुर फल-मूल और मिष्ट जल भी साथ ले चला। दोनों मित्रों ने परस्पर प्रेमालिङ्गन करके कुशल-क्षेम पूँछा। गुह ने रामचन्द्रजी का बहुत अच्छा सत्कार किया। राम-चन्द्रजी अपने मित्र के आतिथ्य से बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु रामचन्द्रजी ने अपने मित्र के राजसी ठाट का आतिथ्यसत्कार ग्रहण न किया। कारण

यह कि वे वनवासी मुनियों का व्रत पालन करने के लिए वन में आये थे। इस लिए उन्होंने राजा के घोड़ों के लिए तो दाना-घास आदि सामग्री ले ली, पर अपने लिए कुछ न लिया।

सन्ध्याकाल उपस्थित होने पर रामचन्द्रजी आदि ने सन्ध्यावन्दना को, सायंकालिक नित्यकर्म से निवृत्त होकर लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी के लिए स्वच्छ शीतल जल ले आये। रामचन्द्रजी जलपान करके सीता-सहित भूमि पर ही सो गये। लक्ष्मणजी पहले तो रामचन्द्रजी के पैर दबाते रहे और फिर हाथ में धनुषबाण लिए वीरासन लगाये बराबर एक ओर बैठे रहे। सोये बिलकुल नहीं।

लक्ष्मणजी का रामचन्द्रजी में अलौकिक अनुराग देख कर गुह ने उनकी भक्ति और प्रीति की बहुत प्रशंसा की। जब रात्रि बहुत बीत जाने पर भी लक्ष्मणजी न सोये, वैसे ही अचल बैठे रहे, तब गुह ने उनसे कहा—"महाराज, अब आप भी आराम कर लीजिए, मैं धनुष-बाण लेकर आप सब की रक्षा में उपस्थित रहूँगा।" इसी तरह गुह ने लक्ष्मणजी से कई बार कहा, परन्तु उन्होंने एक न मानी। उन्होंने कहा कि "देखो, जब रघुकुल-तिलक रामचन्द्रजी और सीताजी ही भूमि पर शयन कर रहे हैं तब मेरे आराम का क्या काम।" इतना कह कर लक्ष्मणजी ने गुह को वह सब कथा कह सुनाई कि जब रामचन्द्रजी के वियोग में, उनके माता-पिता, भाई-बन्धु, स्वजन-परिजन और राष्ट्र-निवासी लोग महादुःखित हुए थे। रामचन्द्रजी के वियोग से एक एक को जितना दुःख हुआ था वह सब लक्ष्मणजी ने ब्यौरेवार सुना दिया। इसी तरह वियोग की कथा कहते कहते, विलाप-परिताप करते करते दिन निकल आया। प्रभात होते ही रामचन्द्रजी जाग उठे। शौच, स्नान, सन्ध्या आदि नित्यकर्म से निवृत्त होकर रामचन्द्रजी गंगापार जाने का उपाय सोचने लगे। वे मन में चिन्ता कर ही रहे थे कि इतने में गुह ने

एक सुन्दर नौका लाकर गंगा के किनारे खड़ी कर दी। रामचन्द्रजी उस पर चढ़ने की तैयारी करने लगे; पर सुमन्त्र को वहीं से विदा करना था; इसलिए वे सुमन्त्र से कहने लगे—"सुमन्त्र, तुम शीघ्र लौट कर राजा के पास चले जाओ। बस, हमें यहीं तक रथ की आवश्यकता थी। अब हम पैदल ही चल कर गहन वन में प्रवेश करेंगे।" इतना सुनना था कि सुमन्त्र के नेत्रों से वाष्प-वारि-धारा बह निकली। वह रोदन करने लगा। रामचन्द्रजी के साथ रहने के कारण अभी तक उसको विरह के दुःख ने नहीं सताया था। उसका शोकप्रवाह अभी तक रुका हुआ था। किन्तु जब उसको यह निश्चय हो गया कि अब सचमुच ही रामचन्द्रजी की वियोग-वेदना सहनी पड़ेगी, सीताजी और लक्ष्मणजी के विरह का दारुण दुःख भोगना ही पड़ेगा, तब उसका हृदय काँपने लगा; नेत्रों से आंसू टपकने लगे और कण्ठ रुक गया। सुमन्त्र को ऐसा शोकार्त देख कर रामचन्द्रजी ने उसको बड़ी मधुर-वाणी से समझाया और कहा—"सुमन्त्र, तुम हमारे पिता-माताओं और गुरुजनों से प्रणाम कहना; परदेश में गये हुए भरत और शत्रुघ्न को प्यार कहना और समस्त प्रजाजनों से हमारा आन्तरिक प्रेम प्रकाशित करना।"

तदनन्तर दोनों भाइयों ने मुनियों का वेश बना कर सुमन्त्र और गुह से विदा माँगी। फिर सीताजी को साथ लेकर वे नाव में बैठ गये। थोड़ी ही देर मे नाव दक्षिणी तट पर जा लगी। तीनों सानन्द गंगापार उतर गये।

अब रामचन्द्रजी ने दुर्गम वन में प्रवेश किया। गहन वन में घुसते ही रामचन्द्रजी ने भावी आपत्तियों की चिन्ता करके लक्ष्मणजी से कहा—"भाई, देखो अब यहां से बहुत भयानक मार्ग मे चलना होगा। इस वन में कोई मनुष्य भी दिखाई नहीं देता। यहां न कहीं

खेत-क्यारी है और न कोई वाटिका। यहाँ का मार्ग बड़ा विकट है। कहीं ऊँचा है और कहीं नीचा। यहाँ जानकी की रक्षा का विशेष ध्यान रखना होगा। तुम आगे आगे चलो और तुम्हारे पीछे पीछे जानकी चले। और मैं तुम दोनों की रक्षा करता हुआ पीछे पीछे चलूँगा। तुम आगे से रक्षा करते चलो और मैं पीछे से रक्षा करूँगा। जानकी को आज ही मालूम होगा कि वनवास में कैसे कैसे दुःख हैं।"

(वा० रा० काण्ड २, सर्ग ५२)।

स्वामी के मुख से ऐसे डरपोकपन के वचन सुन कर सीतादेवी के मन में वनवास के दुःखों का अवश्य कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा। परन्तु फिर भी वे विचलित नहीं हुईं, अधीर नहीं हुईं। कारण यह कि एक तो उनके हृदय में स्वामी के प्रति अकृत्रिम और आन्तरिक अनुराग था। उस प्रेम के सामने, पतिसेवा के सामने, वे भारी से भारी दुःख को भी कुछ नहीं समझती थीं। और दूसरे उनको रामचन्द्रजी के बल-पौरुष का पूरा विश्वास था। उनको दृढ़ विश्वास था कि इनके साथ रहने से मुझ पर कोई आपत्ति नहीं आ सकती। इस कारण भी उनको वन के क्लेश कुछ दुःख नहीं पहुँचा सकते थे। और तीसरी बात यह कि उनके मन में बचपन से ही प्राकृतिक सौन्दर्य्य के देखने की उत्कण्ठा प्रबल हो रही थी। कुछ इस कारण भी वनवास का दुःख उनके मन में अधिक सन्ताप नहीं पैदा करता था। यह हमारी मनघडंत कल्पना नहीं है, हम यह बात अपनी ओर से नहीं कह रहे हैं किन्तु अभी थोड़ी ही देर बाद पाठकों को अच्छी तरह विदित हो जायगा कि सीतादेवी भयानक गहन वन को अभी अपने अधीन करके उसको घर का आँगन या फुलवाड़ी बना लेंगी। यदि ऊपर लिखे हुए तीनों कारण प्रबल न होते तो सीतादेवी जैसी महातेजस्विनी नारी को भी वनवास असह्य हो उठता। उनसे भी वनवास का दारुण दुःख न सहा जाता।

अब उधर सुमन्त का वृत्तान्त सुनिए। जब तक रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी पार उतरे और जब तक वे दीखते रहे तब तक सुमन्त गंगा के उत्तरी तट पर खड़ा हुआ उन्हें टकटकी बांधे देखता रहा। जब वे दूर चले गये, दीखने बंद हो गये, तब कुछ देर तक सुमन्त योंही अचल भाव से खड़ा रहा। फिर आंखों से आंसू बहाता हुआ सुमन्त कड़ा जी करके रथ को लेकर लौट पड़ा। वह जिस मार्ग से आया था उसी शून्य मार्ग से अयोध्या को चल दिया।

कैसा विचित्र समय है। जो राजकुमार सदा राजसी ठाट से रहते थे, राजसी वस्त्र धारण करते थे, हाथी और विमानों पर चढ़ कर यात्रा करते थे, जिन्होंने कभी धरती पर नंगा पैर नहीं रक्खा, जो सदा देवदुर्लभ भोज्य पदार्थों का भोजन किया करते थे और कभी अकेले नहीं रहने पाते थे, हा! विचार करते हृदय विदीर्ण हुआ जाता है, कहते वाणी रुकी जाती है और लिखते लेखनी कांपने लगती है कि, वही राजकुमार—वही दशरथनन्दन रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी—आज तापसवेशधारी मुनियों के समान वन को जा रहे हैं; राजसी वस्त्रों की जगह चीर-वल्कल धारण कर रहे हैं। आज उनके पास कोई सवारी नहीं, नंगे पैरों विषम मार्ग में यात्रा कर रहे हैं। आज उनके लिए वन्य फल-मूल ही उत्तम भोजन है। आज वही राजकुमार अकेले निर्जन वन में जा रहे हैं। जगदीश्वर की माया—शक्ति—बड़ी विचित्र है। उसके सामने बड़े बड़े राजराजेश्वरों तक को अपना प्रतापी मुकुट झुकाना पड़ता है।

इसी तरह तीनों को चलते चलते सन्ध्याकाल उपस्थित हो गया। अब उन तीनों के पास चौथा कोई नहीं था। उनके लिए यही पहला अवसर है कि वे तीनों असहाय घोर वन में जा रहे हैं। इसी तरह चलते चलते दिन छिप गया। सन्ध्यासमय उपस्थित हो गया। उसी

निर्जन वन में किसी जगह वे तीनों ठहर गये। सायंकालिक नित्यकृत्य से निवृत्त होकर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी से कहा—"भाई, अब तुम निर्जन वन में हो। अब यहाँ नगर को याद मत करना। अब हमको और तुमको अपने ही हाथ से पर्णकुटी बनानी होगी, तृणशय्या रचनी होगी और सब काम अपने ही हाथ से करने होंगे। इस लिए अब धीरता से रहना चाहिए।"

वह रात्रि उस निर्जन वन में व्यतीत करके प्रातःकाल नित्यकृत्यों से निवृत्त होकर वे तीनों जने फिर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। उस समय सीताजी ने अपने स्वामी के साथ कितने ही रमणीय प्राकृतिक स्थानों का दर्शन करके आनन्द लाभ किया। यह हम पहले कह चुके हैं कि सीताजी को वन्य आश्रम देखने की स्वाभाविक रुचि थी। यही कारण था कि वे दुर्गम, कण्टकाकीर्ण, विषम मार्ग और भयानक वन को भी फूलों का मार्ग समझती थीं।

इसी तरह उस विषम मार्ग में चलते चलते वे तीनों सन्ध्यासमय प्रयाग तीर्थ के समीप पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर वे उस स्थान की ओर चले जहाँ भरद्वाज मुनि का आश्रम था। थोड़ी ही देर में वे उस आश्रम में पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने महर्षि भरद्वाजजी को प्रणाम किया। जब भरद्वाजजी को रामचन्द्रजी का परिचय प्राप्त हुआ तब उन्होंने उनका अच्छा सत्कार किया। मुनि ने उनके खाने के लिए स्वादिष्ट फल मँगा दिये और रहने के लिए एक कुटी बता दी। जब सायंकालिक क्रिया से निवृत्त होकर और कुछ जलपान करके रामचन्द्रजी मुनि के पास बैठे तब उनके पास और भी बहुत से ऋषि-मुनि और उनके शिष्य आ बैठे। वहाँ कुछ देर तक विविध विषयों पर वार्तालाप होता रहा। अन्त में भरद्वाजजी ने रामचन्द्रजी से कहा कि आप अपने वनवास के चौदह वर्ष इसी आश्रम में रह कर व्यतीत

कीजिए तो बहुत अच्छा हो। आपके यहाँ रहने से हम लोगों को अत्यन्त आनन्द होगा। यह आश्रम बहुत ही उत्तम है। यहाँ से नगर भी समीप ही है। आपके और सीताजी के यहां रहने का समाचार पाकर सीताजी से मिलने के लिए बहुत सी स्त्रियां यहाँ प्राय: प्रतिदिन आया करेंगी। ऐसा होने पर सीताजी का भी जी लग जायगा और इनके साथ वार्तालाप करने से और और स्त्रियां भी पातिव्रत धर्म के माहात्म्य से परिचित हो जायँगी। परन्तु मुनि महाराज का यह प्रस्ताव रामचन्द्रजी को पसन्द न आया। उन्होंने बड़ी नम्रता से भरद्वाजजी को उत्तर दिया कि "यदि हम लोग यहाँ रहने लगेंगे तो हमारे यहाँ रहने का समाचार बहुत सुगमता से अयोध्या में पहुँच जायगा। यहाँ हमसे मिलने के लिए अयोध्यावासियों की नित्य भीड़ लगी रहा करेगी। उस भीड़ भाड़ में न हमें सुख मिलेगा और न आप को। इसलिए हे नाथ, आप हमें कोई ऐसा एकान्त स्थान बताइए कि जहाँ जनकनन्दिनी को सब तरह का आराम मिले।"

रामचन्द्रजी के पूछने पर बहुत कुछ सोच विचार कर भरद्वाजजी ने कहा कि "यहाँ से कुछ दूर चित्रकूट नामक एक बहुत ही सुन्दर पर्वत है। वहाँ आपको सब तरह का सुख मिलेगा। वहाँ फल और जल दोनों बहुत स्वादिष्ट मिलेंगे। यदि आप यहीं रहें तो सब से अच्छा, और यहाँ न रह सकें तो सीताजी को साथ लेकर वहीं रहिएगा।"

इस प्रकार निवासस्थान का निर्णय हो जाने पर कुछ देर तक और बात चीत करके रामचन्द्रजी सो गये। प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर रामचन्द्रजी ने मुनिजी से विदा ग्रहण की और फिर सीताजी और लक्ष्मणजी को साथ लेकर चित्रकूट के लिए प्रस्थान कर दिया। मुनिजी और उनके कुछ शिष्य अपनी कृपा दिखाने के लिए, कुछ

दूर तक उनके साथ साथ आये। यमुना के किनारे आकर लक्ष्मणजी ने कुछ सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी कीं और बीच बीच में पत्ते रख रख कर उनकी एक घन्नई बनाई। उसी पर सीताजी के बैठने के लिए उन्होंने हरे हरे कोमल पत्तों की एक कुरसी बना दी। उसी पर बैठ कर सीताजी सहित दोनों भाई धीरे धीरे यमुना के दक्षिणी तट पर जा पहुँचे। इस तरह यमुना से पार उतर कर वे थोड़ीही दूर गये होंगे कि उनको श्याम नामक एक बड़ का पेड़ दिखाई दिया। वह बहुत बड़ा था। उसकी शाखायें दूर तक लम्बी चली गई थीं। उसकी घने पत्तों से लदी हुई शाखायें चारों ओर फैली हुई थीं। वह दूर से देखने पर ऐसा मालूम होता था कि जैसा नीला बादल। उस वृक्ष की शीतल छाया में कुछ देर आराम कर और उसकी शोभा को देख भाल कर रामचन्द्रजी फिर आगे बढ़े।

उस श्याम वृक्ष से आगे कोई कोस भर चले होंगे कि इतने में नीले रङ्ग का एक मनोहर वन दिखाई देने लगा। वह वन बहुत ही सुन्दर था। उसमें नाना प्रकार के रङ्ग-बिरङ्ग सुगन्धित फूलवाले पेड़-पौदे लगे हुए थे। रामचन्द्रजी यह तो जानते ही थे कि सीताजी को फूलों से कितना अधिक स्नेह है और प्राकृतिक सौन्दर्य के देखने का उनको कितना चाव है। इसीलिए उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा—"भाई, देखो, मैथिली जिस प्रकार का फूल या और कोई वस्तु माँगें तुम तुरन्त उन्हें वही चीज़ लाकर देना। ऐसा न हो कि इनकी इच्छा पूरी न हो।" रामचन्द्रजी इतना कहही रहे थे कि इतने में वह रमणीय वन आगया। उसमें ऐसे ऐसे वृक्ष थे, ऐसी ऐसी लतायें थीं, ऐसे ऐसे गुल्म थे कि जो सीताजी ने पहले कभी नहीं देखे थे उन्हें देख कर सीताजी बहुत प्रसन्न हुईं। वे जब जब उन अदृष्टपूर्व वृक्षादि के नामादि पूछतीं तब तब रामचन्द्रजी उनको उचित उत्तर देकर सन्तुष्ट कर

देते। जिस फूल या पत्ते के लेने की इच्छा वे करतीं, लक्ष्मणजी वहीं उनको तुरन्त ला देते। इसी तरह वे दिन भर उसी वन में घूमते फिरते रहे, वहाँ के स्वादिष्ट फलों को खाकर तीनों ने अपनी क्षुधा शान्त की। उसी वन में एक मनोहर नदी बहती थी। उस रात को वे उसी नदी के किनारे सो गये।

प्रातःकाल होने पर रामचन्द्रजी ने फिर यात्रा आरम्भ की। वहाँ से चल कर थोड़ी सी देर में ही वे चित्रकूट के समीप जा पहुँचे। चित्रकूट बहुत ही रमणीय पर्वत था। वहाँ फल-फूलों की कमी नहीं थी। वहाँ का जल ऐसा स्वादिष्ट था कि बस पीतेही बनता था। असंख्य ऋषि-मुनि उस मनोहर स्थान में निवास करते थे। कहीं नदियां बह रही थीं, कहीं झरने झर रहे थे, कहीं बड़ी बड़ी गुफायें थीं, कहीं विषम भूमि थी और कहीं बिलकुल समतल। कहीं सुगन्धित फूल खिल रहे थे, कहीं सघन वृक्षों की पंक्तियां लग रही थीं, कहीं विविध लतायें लहलहा रही थीं और कहीं सरोवरों में कमल खिल रहे थे और भौंरे एक फूल से दूसरे फूल पर उड़ उड़ कर गूँज रहे थे। जब रामचन्द्रजी ने उस वन में प्रवेश किया तब वसन्तकाल था। इसीलिए वहाँ ढाक के वृक्ष ऐसे फूल रहे थे कि आग की तरह चमकते दिखाई देते थे। कहीं कोयल कूह कूह कर रही थी; कहीं मोर बोल रहे थे; कहीं टिटिहरी बोल रही थी; कहीं हिरन, हिरनियां और हिरन के बच्चे बिल्ली की तरह इधर से उधर निकल जाते थे; कहीं सघन वृक्ष की शीतल छाया में हाथियों के झुँड के झुँड घूम रहे थे। उस समय उस वन की शोभा का क्या कहना था! एक तो चित्रकूट योंही सदा हरा भरा और कमनीय रहा करता था और दूसरे वसन्त ऋतु ने उसकी शोभा को और भी द्विगुण कर दिया।

सीताजी रामचन्द्रजी के साथ घूम घूम कर वन की शोभा

को बड़े मनोयोग से देखने लगीं। उसे देख कर उनके मन में अपार हर्ष हुआ। वन की कमनीय शोभा को देख कर सीताजी का हृदय प्रफुल्लित हो उठा। उनका मुरझाया हुआ वदनारविन्द सहसा विकसित हो गया। मार्ग चलने से उनको जितनी थकावट हुई थी वह सब जाती रही। उस वन की अपूर्व शोभा को देख कर सीताजी मार्गजनित समस्त क्लेशों को एकदम भूल गईं। वे उस समय आनन्द में ऐसी मग्न हो रही थीं कि कभी वन की शोभा की ओर देख लेती थीं और कभी रामचन्द्रजी के मुखारविन्द की ओर। इधर तो वन की शोभा और उधर अपने स्वामी के प्रफुल्लित मुखारविन्द को देख कर जानकीजी के मन में अतुल आनन्द हुआ। इसी तरह चलते चलते वे वाल्मीकि मुनि के आश्रम में पहुँच गये। रामचन्द्रजी से मिल कर महर्षि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने वन्य फल-मूलादि से उन तीनों का बहुत अच्छी तरह सत्कार किया।

जिस आदिकवि की पीयूषवर्षिणी लेखनी से यह पवित्र राम-कथा निकल कर भारतवर्ष के प्रत्येक मनुष्य के कर्णकुहर में जाकर अमृतवर्षा की झड़ी लगा देती है और प्रति दिन करोड़ों हिन्दुओं को साधुता, सत्यपरायणता और पवित्रता का उपदेश करती हुई समस्त संसार में धर्म की महिमा का विस्तार कर रही है, उन्हीं 'कविकुल-शिरोमणि महर्षि वाल्मीकि मुनि के आश्रम में महात्मा रामचन्द्रजी का प्रथम पदार्पण करना मन में एक अद्भुत प्रकार का भाव उत्पन्न कर देता है। अभी तक भगवान् वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षी के वध के शोक से दुःखी होकर अकस्मात् सुललित श्लोक का उच्चारण नहीं किया, अभी उनके विमल अन्तःकरण में रामायण की कथा-रचना करने क संकल्प भी प्रादुर्भूत नहीं हुआ; अभी तक उन्हें यह बात स्वप्न में भ मालूम नहीं कि वही सत्यव्रती वनचारी राजकुमार अतिथि संसा

भर में उनकी कीर्तिकौमुदी फैलाने में मुख्य कारण होंगे! यह माना और यह सम्भव है कि, वाल्मीकिजी ने उस समय रामचन्द्रजी की असाधारण पितृभक्ति और धार्मिक श्रद्धा को देख कर एक अपूर्व आनन्द लाभ किया; यह हो सकता है कि पति के साथ वन में विहार करनेवाली, पातिव्रत की प्रत्यक्ष मूर्ति, नवयौवना सीताजी का प्रथम दर्शन करके उनको इनकी अलौकिक मूर्ति ऐसी मालूम हुई हो कि मानो कोई साक्षात् देवी है, और यह भी हो सकता है कि महातेजस्वी लक्ष्मणजी की असाधारण भ्रातृभक्ति को देख कर उनको अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त हुआ हो; परन्तु उनको अभी तक इस बात का कुछ भी पता नहीं कि इनके साथ, इनके जीवन और नाम के साथ, हमारा शाश्वतिक सम्बन्ध होगा। यह बात उनके मन में एक बार भी नहीं आई होगी कि इनका और हमारा, जब तक चन्द्र-सूर्य रहेंगे और जब तक भारतवर्ष में एक भी आर्य शेष रहेगा तब तक, अच्छेद्य या अटूट सम्बन्ध बना रहेगा। और न तब तक रामचन्द्रजी को ही इस बात का कुछ पता था कि महर्षि वाल्मीकि मुनि की ओजस्विनी लेखनी से आदिकाव्य के रूप में हमारा चरित लिखा जाकर संसार में इतनी प्रतिष्ठा पावेगा कि जिसे प्रत्येक सुजन अपनी जिह्वा पर धारण करके अपने जन्म को सफल समझेगा। वे तो अपनी धर्मपत्नी और कनिष्ठ भ्राता को साथ लिये हुए, पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए, वन में आये थे और आते आते अकस्मात् वाल्मीकि मुनि के आश्रम में पहुँच गये। और उस समय मुनि ने भी केवल राजभक्ति और अतिथि-पूजा की कर्तव्यता से ही प्रेरित होकर उनका समुचित आदर-सत्कार किया था। बस।

उस रमणीय चित्रकूट पर पहुँच कर रामचन्द्रजी का भी मन मोदित हो गया। उन्होंने सीताजी की भी इच्छा देख कर कुछ दिन

वहीं निवास करने का विचार प्रकट किया। बड़े भाई की आज्ञानुसार लक्ष्मणजी ने वहां एक बहुत सुन्दर कुटी बना कर तैयार कर दी। वह कुटी उन्होंने लकड़ियों की बनाई और उसकी छत बड़े बड़े पत्तों से छा दी। उसी कुटी में उन्होंने अग्निहोत्र करने के लिए एक वेदी भी बनादी। लक्ष्मणजी के हाथ की बनी हुई सुन्दर कुटी को देख कर रामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए और उसमें रहने लगे। लक्ष्मणजी भी श्रद्धाभक्ति से रामचन्द्रजी की सेवा-शुश्रूषा करके अपने जन्म को सफल करने लगे।

चित्रकूट पर्वत पर पर्णकुटी में रह कर सीताजी वहां की शोभा को देख देख कर प्रति दिन आनन्द-लाभ करने लगीं। वे प्रतिदिन इच्छानुसार पति के साथ गुफाओं, वाटिकाओं और झरनों को देख देख कर अपना मनोरञ्जन करने लगीं। उस मनोहर वन और पवित्र आश्रम को ही वे अपना स्वाभाविक निवास-भवन मान कर परमानन्द प्राप्त करने लगीं।

अच्छा, अब इधर रामचन्द्रजी आदि को चित्रकूट पर निवास करने दीजिए। अब थोड़ी देर के लिए अयोध्या की ओर चलिए। चलिए, देखें तो उधर रामचन्द्रजी आदि के वियोग में राजा दशरथ और उनकी रानियों की क्या दशा है?

हम ऊपर लिख चुके हैं कि रामचन्द्रजी आदि को गंगा के किनारे उतार कर उनकी आज्ञानुसार, सुमन्त्र शोकाकुल होकर अयोध्या की ओर चल दिया। जिस समय सुमन्त्र अयोध्या में पहुँचा उस समय रामचन्द्रजी का वनवास और भी निश्चय हो गया; अयोध्यावासी लोग और भी अधिक शोकाभिभूत हो उठे। उस समय राजा दशरथ को जितना शोक हुआ उतना और किसी को नहीं। वे तो निरन्तर विलाप-सन्ताप करते करते विक्षिप्त से होगये। वे विलाप करते हुए

रानियों—और विशेष कर कौशल्या—से कहने लगे कि "अब हमारा अन्तकाल निकट आगया । अब हम प्यारे राम के वियोग में अधिक दिन तक नहीं जी सकते ।" यद्यपि उस समय रानी कौशल्या को भी कम शोक नहीं था, तथापि वह अपने प्रबल शोक को जैसे तैसे कम करके राजा को समझाने लगी । उसने राजा को बहुत समझाया । परन्तु राजा का विरहाग्निदग्ध हृदय कौशल्या के शीतल वाक्यों से भी शान्त न हुआ । पुत्रनिर्वासन की छठी रात्रि को राजा दशरथ का प्राणपखेरू राम राम रटता हुआ उड़ गया ।

महाराज दशरथ के प्राण-विसर्जन का पता रात में किसी को न लगा । क्योंकि वह समय अर्ध-रात्रि का था । उस समय सब रानियां नींद में अचेत पड़ी थीं । जब प्रातःकाल हुआ तब प्रतिदिन की तरह सूत, मागध और बन्दीजन द्वार पर आकर राजा की स्तुति और मंगलगान करने लगे । उस समय राजद्वार पर इतना कोलाहल हुआ कि उस शब्द को सुन कर वृक्षों पर सोये हुए पक्षी भी जाग उठे । वे भी उठ कर कलरव करके मानों राजा को जगाने लगे । लोग भगवान् के और पवित्र तीर्थों के नाम लेने लगे । वीणा बजने लगी । राजा की दासियां उनके स्नान कराने के लिए जल ले आईं । स्नान-घर में स्नान की सारी सामग्री रख दी गई । यह तो सब कुछ हुआ, परन्तु प्रातःकाल होने पर भी राजा नहीं जगे । जब नित्य के उठने का समय बीत चुका और राजा नहीं उठे तब रानियां घबराती हुईं राजा की शय्या के पास गईं । वहां जाकर देखा तो राजा का शरीर एकदम ठंढा पड़ा था । राजा के शरीर को छूते ही उनके शरीर में एकदम बिजली सी कौंद गई । उन्होंने ध्यान से देखा तो राजा निर्जीव पड़े थे । विपत्ति पर घोर विपत्ति आई देख कर रानियां कांप उठीं । राजा दश-रथ के [illegible] का समाचार बात की [illegible] में सारी [illegible]

में फैल गया। सर्वत्र हाहाकार मच गया। चारों ओर शोकसागर की भयंकर तरंगें उठने लगीं। सारे अयोध्यावासी जन अपने कर्तव्य-कार्यों को भूल कर शोक में निमग्न हो गये। भरतजी और शत्रुघ्नजी दोनों अपने मामा के यहाँ गये हुए थे। उनको अभी तक यहाँ का कुछ भी समाचार मालूम नहीं हुआ। राम-वनवास और पिता का स्वर्गवास अभी तक भरतजी को मालूम नहीं। हा! वह कैसा घोर आपत्काल था कि राजा दशरथ की अन्त्येष्टि-क्रिया करने के लिये उस समय एक भी पुत्र वहाँ उपस्थित न था!

मुनिराज वशिष्ठजी के आज्ञानुसार राजा का मृत देह तैलपूर्ण कड़ाह में रख दिया गया और भरतजी के बुलाने को शीघ्रगामी दूत भेज दिये गये। दूत बहुत जल्द केकय देश में पहुँच गये। दूतों ने और कुछ समाचार न कह कर बस इतना ही कह दिया कि गुरुजी की आज्ञा है कि आप बहुत जल्द अयोध्या चले आवें। इतना सुनते ही भरतजी छोटे भाई शत्रुघ्न को साथ लेकर दूतों के साथ अयोध्या को चल दिये। एक तो इतना शीघ्र बुलाने के कारण पहले ही भरतजी के मन में सन्देह हो रहा था और दूसरे जब दूर से अयोध्या नगरी की बुरी दशा देखी तब तो उनका चित्त और भी अधिक चञ्चल हो उठा। मार्ग में कई बार भरतजी ने दूतों से पूछना चाहा, पर दूतों ने उन्हें कुछ भेद नहीं बताया। कारण यह कि गुरुजी ने दूतों से भेद खोलने के लिए निषेध कर दिया था। अस्तु जिस समय व्याकुल-चित्त होकर भरतजी अपनी माता के मन्दिर में पहुँचे उस समय उन्होंने केकयी से सबसे पहले राजा दशरथ और रामचन्द्रजी आदि का कुशल-समाचार पूछा। बहुत दिनों के बाद भरतजी को देखने के कारण केकयी ने उनके प्रश्न का कुछ उत्तर न देकर पहले अपने पिता आदि का कुशलक्षेम पूछा। तदनन्तर केकयी ने रामविरह के कारण राजा की मृत्यु का

समाचार और राम-वनवास का सविस्तर वृत्तान्त भरतजी को सुना दिया। धर्मात्मा भरतजी उन दोनों हृदयविदारक दारुण समाचारों को सुनते ही मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़े। जब बहुत देर बाद उन को कुछ चेत हुआ तब वे पापिनी केकयी को बुरा भला कहने लगे। इस सारे अनर्थ की मूल मन्थरा को जान कर शत्रुघ्नजी ने उसकी बड़ी दुर्दशा की। उस समय शत्रुघ्नजी ने उसको उसकी कुचाल और कुटिलता का फल अच्छी तरह चखा दिया। गुरु वशिष्ठजी और मन्त्री आदि जन इकट्ठे होकर भरतजी को राजा की अन्त्येष्टि-क्रिया करने के लिए प्रेरणा करने लगे। गुरुजी की आज्ञा से भरतजी ने जैसे तैसे शोक को दबा कर अपने पिता की अन्त्येष्ट-क्रिया की। चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों के साथ राजा दशरथ का प्रतापी देह अग्नि में भस्म होकर अपने अपने तत्त्वों में जा मिला। जो राज-शरीर कुछ दिन पहले राजसी ठाट बाटों को भोग कर अपने को धन्य समझता था, आज वही शरीर राख हो गया। भरतजी ने पिता की अन्त्येष्ट-क्रिया कर तो दी, पर वे शोक में ऐसे व्याकुल हो रहे थे कि उन्हें न दिन को भोजन अच्छा लगता था और न रात्रि को नींद आती थी। उनको रात दिन पिता के मरने और रामचन्द्रजी आदि के वनवास हो जाने का शोकाग्नि जलाया करता था।

राजा दशरथ की अन्त्य क्रिया हो जाने पर गुरु वशिष्ठजी और मन्त्रियों ने राजतिलक कराने के लिए भरतजी को बहुत प्रेरित किया। सबने ही भरतजी को समझाया; पर भरतजी ने राजतिलक कराना स्वीकार न किया। भरतजी की महिमा इससे अधिक और क्या हो सकती है कि सब के कहने पर भी उन्होंने राजतिलक कराना स्वीकार न किया। कारण यह कि वे धर्मात्मा थे, वे जानते थे कि बड़े भाई की उपस्थिति में छोटे भाई को राज्य नहीं मिल सकता। भरतजी ने

धर्मशास्त्र देखे और सुने थे इसलिए वे बड़े भाई के होते हुए स्वयं राजसिंहासन पर बैठना नहीं चाहते थे । इसी कारण उन्होंने सबको स्पष्ट उत्तर दे दिया कि जिस धर्म के पालन करने के लिए मेरे पिता ने अपने प्यारे पुत्र को वनवास दे दिया और जिनके वियोग में शरीर तक का त्याग कर दिया; जिस धर्म की रक्षा करने के लिए सर्वप्रिय रामचन्द्रजी राज्य को छोड़ कर मुनियों का वेश धारण करके वन को चले गये, जिस धर्म के रक्षार्थ श्रीमती सीतादेवीजी अपने स्वामी के साथ वन में चली गईं और जिस धर्म के पालनार्थ महावीर लक्ष्मण अपने बड़े भाई के अनुगामी हुए, उसी धर्म को मैं कैसे त्याग सकता हूँ ? क्या मैंने धर्म-शास्त्रों का अध्ययन या परिशीलन नहीं किया ? क्या मैं राजा दशरथ का पुत्र नहीं हूँ ? क्या मैं धर्मधुरन्धर रामचन्द्रजी का छोटा भाई नहीं हूँ ? मैं धर्मविरुद्ध कोई काम करके राजा दशरथ और महात्मा रामचन्द्रजी की निन्दा नहीं कराना चाहता ।

अन्त में भरतजी ने सबके साथ सम्मति करके यह निश्चय किया कि मैं रामचन्द्रजी को यहाँ लौटा ला कर राजगद्दी पर बिठला दूँगा और फिर मैं भी यहीं उनकी सेवा करके अपने जन्म को सफल करूँगा । यही सोच कर भरतजी रामचन्द्रजी की खोज में वन को चल दिये । उनके साथ रामचन्द्रजी से मिलने के लिए और भी बहुत से मनुष्य चले । राजगुरु, राजमन्त्री, रानियाँ तथा अन्यान्य अयोध्या-निवासी अनेक स्त्री-पुरुष उनके साथ हो लिये ।

मार्ग में चलते हुए भरतजी को कुछ भी क्लेश नहीं हुआ । जहाँ जहाँ रामचन्द्रजी ठहरे थे उस उस स्थान को देख कर भरतजी को अत्यन्त शोक होता था । मार्ग में गुह से मिल कर भरत जी जब भरद्वाजजी के आश्रम में पहुँचे तब उन्होंने इनका और इनके साथियों का अच्छा आदर-सत्कार किया । ऋषिजी के आतिथ्य से सब लोग बहुत

सन्तुष्ट हुए। फिर वहाँ से भरद्वाजजी के बताये हुए मार्ग से चल कर भरतजी बहुत जल्द चित्रकूट पर पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर भरतजी और सब सेना आदि को दूर टिका कर केवल शत्रुघ्नजी, मन्त्री सुमन्त्र और गुह को साथ लेकर रामचन्द्रजी के पास गये।

जिस समय भरतजी का समाज उस वन में पहुँचा था उस समय उस भीड़ को देख कर वन के समस्त पशु-पक्षी जहाँ तहाँ को भाग निकले थे। उसी कोलाहल को देख कर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी से उसका कारण जानने को कहा। लक्ष्मणजी ने देख भाल कर कहा कि मालूम होता है, भरतजी आ रहे हैं। ये इतना कहने ही पाये थे कि इतने में भरतजी आगये। वे आते ही रामचन्द्रजी के चरणों में गिर पड़े। वे रामचन्द्रजी के मुनिवेश और पिता के मरण को याद करके धाड़ें मार मार कर रोने लगे। आप जानते हैं, भरतजी उस समय किस वेश में थे? वे उस समय रामचन्द्रजी की तरह मुनिवेश धारण किये थे। उसी समय क्या, उन्होंने जब से यह सुना था कि रामचन्द्रजी मुनियों का वेश धारण करके वन को गये हैं तभी से उन्होंने राजसी ठाट बाट के वस्त्र उतार कर मुनियों की तरह चीर-वल्कल धारण कर लिये थे। पितृवियोग और भ्रातृ-निर्वासन से भरतजी को इतना दुःख हुआ था कि वे बहुत दुर्बल हो गये थे। यही कारण था कि रामचन्द्रजी को भरतजी के पहचानने में कुछ समय लगा। रामचन्द्रजी ने भरतजी को उठा कर हृदय से लगा लिया। फिर रामचन्द्रजी ने सबका कुशल-समाचार पूछा। भरतजी के मुख से पिता का स्वर्गवास सुन कर रामचन्द्रजी को अपार दुःख हुआ। वे दुःखित होकर विलाप करने लगे।

भरतजी और शत्रुघ्नजी दोनों भाइयों से मिल कर वहाँ बैठे ही थे कि इतने में कौशल्या आदि माताओं को साथ लिये हुए वशिष्ठजी

भी वहां आ पहुँचे। उस समय सीताजी की दशा बड़ी दयनीय थी। शीतोष्ण और भूख-प्यास को सहन करके वे ऐसी दुर्बल और मलिन-मुखी हो गई थीं कि उनको देख कर कौशल्या आदि के आंसू निकल पड़े। सीताजी बड़ी भक्ति और श्रद्धा से अपनी सासुओं से मिलीं। अपने ससुर के परलोक-गमन का दारुण समाचार सुन कर सीताजी ने भी बहुत विलाप किया।

जब सब लोग परस्पर मिल लिये और शोक का पहला उच्छ्वास कुछ कम हुआ तब भरतजी ने रामचन्द्रजी से अयोध्या चल कर राज-सिंहासन पर विराजमान होने के लिए विनयपूर्वक प्रार्थना की। उस समय वहां पर जितने मनुष्य बैठे थे सभी ने भरतजी की प्रार्थना का अनुमोदन किया परन्तु सत्यव्रती, सत्यसन्ध, धर्मधुरन्धर, पिता के अनन्यभक्त रामचन्द्रजी ने उस प्रार्थना को स्वीकार न किया। उन्होंने भरतजी को ही राज्यपालन करने की सम्मति दी। उन्होंने अन्त में सबसे कह दिया कि मैं पिताजी की आज्ञा को भंग करके स्वयं अपने को और पिताजी को पाप का भागी नहीं बनाना चाहता। जिस सत्य-धर्म का पालन करके पिताजी स्वर्ग पधारे हैं उसी सत्यधर्म का हमको भी पालन करना चाहिए। अन्त में जब भरतजी ने देख लिया कि रामचन्द्रजी किसी प्रकार भी अयोध्या न चलेंगे तब उन्होंने उनकी सेवा में निवेदन किया कि "महाराज, यदि आप पिताजी की आज्ञापालन बिना किये घर नहीं चलना चाहते तो कृपा करके आप मुझे अपनी चरण-पादुका ही दे दीजिए। मैं उन्हीं को राजसिंहासन पर रख कर, आपका प्रतिनिधि होकर, राजकाज चला लूँगा।" सबकी सम्मति देख कर रामचन्द्रजी ने अपनी खड़ाऊँ भरतजी को देदीं। उन्हें लेकर भरतजी ने आंखों से आंसू बहाते हुए रामचन्द्रजी से बिदा ग्रहण की। रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी ने माताओं को, गुरुजी

को और मन्त्रियों आदि वृद्धजनों को प्रणाम किया। अन्त में वे सब राम लक्ष्मण और सीतादेवी को उसी घोर वन में अकेला छोड कर अयोध्या को चले गये। अयोध्या में पहुँच कर भरतजी ने रामचन्द्रजी की खडाऊँ को राजसिंहासन पर स्थापित कर दिया और आप अयोध्या से बाहर नन्दिग्राम में, मुनियों का वेश बना कर, रहने और राज-काज करने लगे।

तीसरा काण्ड

विराध-वध, पञ्चवटी-निवास और सीता-हरण

अब चित्रकूट का समाचार सुनिए। भरतजी के अयोध्या चले आने पर रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ, उसी चित्रकूट पर निवास करने लगे। एक दिन रामचन्द्रजी ने देखा कि बहुत से तपस्वी, ऋषि, मुनि लोग इकट्ठे होकर परस्पर कुछ वार्तालाप कर रहे हैं। उनके वार्तालाप को रामचन्द्रजी ने इस कारण और भी विशेष ध्यान से सुना कि वे लोग कभी कभी वार्तालाप के बीच बीच में रामचन्द्रजी की ओर उँगली उठाते जाते थे और कभी कभी प्रसंगानुसार उनका नाम भी लेते जाते थे। रामचन्द्रजी ने शङ्कित होकर उस ऋषिमण्डली में से एक ऋषि को बुलाया और उससे पूछा कि "आप लोग आज क्या विचार कर रहे हैं?" रामचन्द्रजी को उस बात का भय था कि कहीं हम लोगों से तो इनको कुछ कष्ट नहीं पहुँच रहा है? परन्तु पूछने पर उनको मालूम हो गया कि ऋषियों को उनके सम्बन्ध में कोई शङ्का नहीं है। उनके कथन से मालूम हुआ कि वे लोग राक्षसों के द्वारा सताये जाते हैं। खर-दूषण आदि राक्षसों के द्वारा उन ऋषि-मुनियों को बहुत कष्ट मिलता था। वे जो कुछ यज्ञादि कर्म करते, राक्षस लोग आकर उसमें अनेक विघ्न करते थे। इसी कारण वे लोग उस दिन इकट्ठे होकर पंचायत कर रहे थे। वे सोच रहे थे कि अब इस स्थान को छोड़ कर कहीं अन्यत्र चल कर रहना चाहिए। यह सुनकर रामचन्द्रजी ने भी फिर वहाँ से अन्यत्र जाने का संकल्प कर लिया। बहुत से तपस्वी तो तुरन्त चले गये, पर जो अधिक विचारशील, दूरदर्शी और रामचन्द्रजी के बाहुबल को जाननेवाले थे वे वहीं ठहरे

रहे। वे जानते थे कि रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी दोनों महाबली हैं। इनके आश्रम में रहने से कभी किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता।

चित्रकूट पर रह कर सीताजी ने रामचन्द्रजी की सेवा बड़ी श्रद्धा और भक्ति से की। उनकी सेवा से रामचन्द्रजी प्रसन्न हो गये। स्वामी को प्रसन्न जान कर सीतादेवी के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने वहाँ भ्रमण और नाना प्रकार के दर्शनीय स्थानों का दर्शन करके बहुत आनन्द-लाभ किया। परन्तु भरतजी की सेना के ठहरने और हाथी-घोड़ों के द्वारा वहाँ की हरित घास के कुचल जाने से उस वन की शोभा कुछ कम हो गई। इसलिए रामचन्द्रजी ने उस वन के छोड़ने का पक्का विचार कर लिया। उस वन के छोड़ने का एक यही कारण नहीं और भी कई कारण थे। जब से भरतजी और उनकी मातायें उनसे मिल कर गईं थीं तभी से उस स्थान पर उनका चित्त प्रसन्न नहीं रहता था। यह स्वाभाविक बात है कि जिस स्थान पर कभी कोई दुःखदायक घटना हो जाती है उसी समय से वह स्थान महाभयानक दिखाई देने लगता है। फिर वहाँ रहने वाले का जी नहीं लगता और लाचार उसको वह स्थान छोड़ना ही पड़ता है। यही दशा उस समय रामचन्द्रजी की हुई। भला जिस स्थान पर उन्होंने पिता के मरण का हृदयविदारक वृत्तान्त सुन कर अपार शोक किया हो, जहाँ भरतजी के साथ, गुरुजी के साथ और माताओं के साथ सजलनयन होकर वार्तालाप किया हो, वह स्थान कभी उनके लिए शान्तिदायक हो सकता है? कभी नहीं। यही कारण है कि जब तक वे उस स्थान पर रहे तब तक उनको स्वजनों का बराबर स्मरण बना रहा। और जब तक स्वजनों का स्मरण बना रहा तब तक उनको बिलकुल आनन्द और सुख नहीं मिला। बस इस स्वजन-स्मरणरूप दुःसाध्य रोग की यही सर्वोत्तम चिकित्सा थी कि वे उस स्थान का परित्याग

करें। निदान, उन्होंने यही सोच कर अन्यत्र जाने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

सीतादेवी और लक्ष्मणजी को साथ लेकर रामचन्द्रजी वहाँ से चल दिये। चित्रकूट से चल कर वे अत्रि मुनि के आश्रम में जा पहुँचे। अत्रि मुनि बड़े महात्मा और वृद्ध थे। उनकी एक स्त्री थी। उनका नाम अनसूया था। वे बड़ी पतिव्रता और धर्मपरायणा थीं। वे सदैव पति के साथ रहतीं और उनकी सेवा-शुश्रूषा किया करती थीं। वे भी पढ़ी लिखी थीं। धर्मशास्त्रों के मर्म को वे बहुत अच्छी तरह से जानती थीं। वे भी पति के साथ यम-नियमों का साधन करके ईश्वर के भजन में लगी रहती थीं। महर्षि अत्रि अपनी स्त्री का समुचित सत्कार किया करते थे। दोनों परस्पर बड़े प्रेमभाव से रहते थे।

रामचन्द्रजी अत्रि के आश्रम में पहुँचे ही थे कि इतने में सामने अनसूयाजी आ गईं। अनसूया वृद्धा थीं अतएव उनके सिर के केश पक गये थे। वे बड़ी तपस्विनी थीं। रामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर सीताजी उनके पास गईं। सीताजी ने अपना नाम बता कर उनको प्रणाम किया। अनसूयाजी ने सीताजी को आशीर्वाद देकर उनका कुशल-समाचार पूँछा। कुशल-क्षेम पूँछने के बाद तपस्विनी अनसूया सीताजी को मधुर शब्दों में उपदेश देने लगीं। उन्होंने कहा—

"त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि।
अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि॥
नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥
त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा॥

तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती, पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी।
भव स्वभर्तुः सहधर्मचारिणी, यशश्च धर्मञ्च ततः समाप्स्यसि॥

(वा० रा० काण्ड २, सर्ग ११७)

अर्थात्—"हे सीते, तुम घर-द्वार, धन-माल और जाति-बान्धवों को छोड़ कर वनवासी रामचन्द्रजी के साथ साथ फिरती हो—यह बड़े आनन्द की बात है। क्योंकि पति चाहे नगर में रहे या वन में, वह चाहे अच्छा हो या बुरा, स्त्री को सदा उसकी पूजा ही करनी चाहिए। जो स्त्री पति को सब दशाओं में प्यार करती है वह बड़भागिनी है। उसको अगले जन्म में बहुत सुख मिलता है। शास्त्रों का कथन है कि पति चाहे कैसे ही बुरे स्वभाव का हो, कैसा ही स्वेच्छाचारी हो, कितनाही निर्धन हो, परन्तु उत्तम स्वभाववाली स्त्रियों के लिए वही परम देवता है। हे सीते, तुम सच्ची पतिव्रता और पतिपरायणा हो। तुम्हारी तरह पतिभक्ति करनेवाली स्त्रियां पुण्यात्मा जनों के लोक को प्राप्त होती हैं। इसलिए हे जानकि, तुम पति की अनुकूलता में रहती हुई उनकी सच्ची सहधर्मिणी बनो। ऐसा करने से तुमको यश और धर्म दोनों प्राप्त हो जायँगे।"

अहा! यह कैसा अनुपम उपदेश है! कैसी अमूल्य शिक्षा है। पातिव्रत धर्म का ऐसा उच्च आदर्श संसार में और कहीं नहीं देखा जाता। यदि उस धर्म-पथ पर चल कर स्त्री अपने कर्तव्य का पालन कर ले तो वह स्त्री साधारण स्त्री नहीं, साक्षात् लक्ष्मी है। हम उसको देवी के समान मानते हैं। जिन स्त्रियों ने अपने पातिव्रत को इस उपदेशानुसार निबाहा है सचमुच उन्हीं स्त्रियों को संसार देवी, लक्ष्मी और सरस्वती के नाम से पुकारता है। पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली स्त्रियाँ ही संसार की भूषण हैं। जिस देश में ऐसी पतिव्रता स्त्रियाँ जन्म लेती हैं वह देश धन्य है। परमात्मा करें इसी उपदेश के

अनुसार आजकल की स्त्रियाँ भी अपने धर्म का पालन करना अपना कर्तव्य समझने लगें। ईश्वर करे, प्राचीन काल की स्त्रियों की तरह वर्तमान काल की स्त्रियाँ भी इस उपदेश को अपना कण्ठहार समझने लगें।

जो मनुष्य जिस विषय का ज्ञान बहुत रखता है, जिस विषय में उसका आन्तरिक प्रेम होता है और जिसे प्राण के समान चाहता है उस विषय में उसको और अधिक उपदेश करने पर उसके मन में एक अद्भुत प्रकार का भाव उत्पन्न हो जाता है। माता स्नेह की खान होती है। उसको ममता और स्नेह की साक्षात् मूर्ति कह सकते हैं। उस माता को स्नेह का उपदेश देने पर उसके हृदय में जैसा विचित्र भाव उत्पन्न हो जाता है वैसा ही भाव पतिव्रता और पतिपरायणा स्त्री के मन में उसको पातिव्रत धर्म का उपदेश देने पर उत्पन्न हो जाता है। उसके हृदय मे एक प्रकार की असहिष्णुता पैदा हो जाती है। सीतादेवी की भी यही दशा थी। उनको जब कभी किसी ने पातिव्रत धर्म का उपदेश दिया तभी वह उपदेश उनके लिए असह्य हो उठता था। इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उनको वैसे उपदेश से घृणा थी अथवा वैसा उपदेश उनको अच्छा नहीं लगता था। नहीं, यह बात नहीं थी, किन्तु बात यह थी कि वैसी शिक्षा की उनके लिए आवश्यकता ही न थी। कारण यह कि वे पातिव्रत धर्म के माहात्म्य को पूर्णतया जान चुकी थीं। यदि किसी एम० ए० पास विद्वान् से यह कहा जाय कि तुम अँगरेज़ी की प्राइमर पढ़ो, तो क्या उसको यह बात सह्य होगी? यदि किसी शास्त्री से संस्कृत-व्याकरण के "अण्, इण्, इक्" इत्यादि प्रत्याहार सिद्ध करने को कहा जाय तो क्या उसके मन में असहिष्णुता न उत्पन्न होगी? अवश्य होगी। यही कारण था कि पूजनीय अनसूया के मुख से पातिव्रत धर्म का उपदेश सुन कर सीता ने तुरन्त कह दिया कि मैं बचपन से ही अपने धर्म को जान चुकी हूँ।

मुझको इस विषय में और कुछ जानना शेष नहीं है। अहा! बचपन की शिक्षा का भी कैसा अद्भुत प्रभाव होता है। यह बाल्यकाल की शिक्षा ही का फल है कि जो सीतादेवी ने निष्कपट भाव से अपने स्वामी के पवित्र चरणों में अपना प्राण तक अर्पण कर रक्खा था। यह बचपन की शिक्षा का ही फल है कि जो सीतादेवी राजपाट को छोड़ कर गहन वन में अपने स्वामी के साथ साथ उनकी सेवा करती हुई घूम रही थीं। सीतादेवी की तेजस्विता, उच्च प्रकृति, धर्मभाव और आत्मिक बल को धन्य है!

अनसूया के उपदेश को सुन कर सीतादेवी ने जो उत्तर दिया वह सुनने योग्य है। उनका यह उत्तर स्त्रियों के सुनने ही योग्य नहीं किन्तु मनन करने योग्य है। सुनिए।

सीताजी ने कहा:—

"देवि, आपने जो कुछ उपदेश मुझको दिया वह बहुत ठीक है। परन्तु हे आर्ये, मैं इस बात को अच्छी तरह जानती हूँ कि स्त्रियों का एकमात्र गुरु पति ही है। मैं यह भी जानती हूँ कि पति चाहे दरिद्र वा दुश्चरित्र ही क्यों न हो, तो भी सदा उसकी सेवा ही करनी चाहिए। और जिस स्त्री का पति जितेन्द्रिय, गुणाढ्य, दयालु, प्रीतिमान्, धार्मिक, धनाढ्य और शूरवीर हो तो फिर उसका तो कहना ही क्या। जिस समय मैं वन को चली थी उस समय पूजनीय कौशल्या ने भी मुझको यही उपदेश किया, था और बचपन में मेरी माताजी ने भी इसी प्रकार का उपदेश दिया था। वह मुझे सब याद है। मैं उसे भूली नहीं हूँ। वास्तव में पतिसेवा ही स्त्री की तपस्या है। यह बात मेरे माता-पिता ने बचपन से ही मेरे जी में जमा दी है।"

(वा० रा० काण्ड २, सर्ग ११८)

सीतादेवी के विचारगर्भित पवित्र वचनों को सुन कर अन-

सूयाजी बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने प्रसन्न होकर सीताजी को एक सुन्दर माला, वस्त्र, आभूषण और अङ्गराग आदि कई वस्तुएँ पारितोषिक में प्रदान कीं। उस अङ्गराग (उबटने) से सीतादेवी के शरीर की और सीतादेवी के शरीर से उस अङ्गराग की बड़ी अद्भुत शोभा हुई। इस प्रकार सीतादेवी का सत्कार करके अनसूयाजी एकान्त में बैठ कर उनसे उनके विवाह का वृत्तान्त सुनने लगीं। सीताजी ने अपने स्वयंवर का कुल समाचार उनको सुना दिया।

जब दिन छिप गया तब अनसूयाजी के दिये हुए वस्त्राभूषणों को धारण करके सीताजी रामचन्द्रजी के पास गईं। रामचन्द्रजी ऋषि-पत्नी के प्रीतिदान को देख कर बहुत सन्तुष्ट हुए। लक्ष्मणजी भी सीतादेवी का इतना सत्कार देख कर बहुत प्रसन्न हुए।

प्रातःकाल होने पर रामचन्द्रजी अपने छोटे भाई और सीताजी को साथ लेकर अत्रि ऋषि के पास बिदा लेने के लिए गये। उनसे बिदा होकर फिर वे भयंकर दण्डक वन में जा पहुँचे। वह वन सघन वृक्षों की अधिकता से बड़ा भयंकर अन्धकारमय प्रतीत होता था। पशु-पक्षी निरन्तर शब्द कर रहे थे। कहीं सिंह, व्याघ्र, रीछ आदि हिंस्र पशु घूमते फिरते थे और कहीं महाभयंकर राक्षसों का झुंड सारे प्राणियों को डराता हुआ स्वच्छन्दता से भ्रमण करता फिरता था। कहीं कहीं तपोधन ऋषियों के पवित्र आश्रम वन की शोभा बढ़ा रहे थे। रामचन्द्रजी ने सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ वन की शोभा को देख कर अपने नेत्र और मन सफल कर लिये। वे जिस वनवासी तपस्वी के आश्रम में गये उसी ने उनका समुचित सत्कार किया।

सीतादेवी अब तक वन की शोभा को देख देख कर मोहित होती रहती थीं और उनके मन में नवीन नवीन वनों के दर्शन की लालसा प्रतिदिन अधिक ही बढ़ती जाती थी। उनको अभी तक यही

विश्वास था कि वन में आनन्द ही आनन्द है; दुःख का नाम नहीं। वनवास में कभी कभी भयङ्कर आपत्ति भी आजाया करती है—इस बात का उनको स्वप्न मे भी ज्ञान न था। परन्तु एक दिन उनको यह निश्चय हो गया कि वन मे सदा आनन्द ही नहीं मिलता किन्तु कभी कभी भारी विपत्ति का भी सामना करना पड़ता है।

एक दिन की बात सुनिए। एक दिन प्रातःकाल सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ रामचन्द्रजी किसी तपस्वी से कुछ बात चीत करके वन मे जा रहे थे। वे थोड़ी ही दूर चले थे कि इतने में एक भयंकर राक्षस आता दिखाई दिया। उसका नाम विराध था। वह आते ही दोनो भाइयों के बीच में से सीताजी को उठा कर और कंधे पर रख कर चल दिया। सीताजी की यह दुर्दशा देख कर रामचन्द्रजी को बहुत दुःख हुआ। उस समय दोनों भाइयों ने क्रोध मे भर कर बड़ी निर्दयता से उस राक्षस के ऊपर बाणों की वर्षा करनी आरम्भ की। उनके तीक्ष्ण बाणों से पीड़ित होकर राक्षस ने सीताजी को भूमि पर उतार दिया। फिर वह क्रोध में भर कर दोनों भाइयों की ओर दौड़ा। उसने आते ही दोनो भाइयो को अपने कंधे पर उठा कर रख लिया। सीताजी वहीं रोती रहीं और वह उन दोनों को न जाने किस गहन वन में ले गया। स्वामी और देवर की यह दशा देख कर सीताजी को असीम दुःख हुआ। उनसे वहाँ और न ठहरा गया। वे भी रोती हुईं राक्षस के पीछे पीछे दौड़ी। उन्होंने रोते रोते कहा—"राक्षस, तू इन सुशील, पितृभक्त और सत्यपरायण दोनों भाइयों को छोड़ दे और उनके बदले मुझ को ले जा।" इस प्रकार सीताजी ने उस समय बहुत विलाप-परिताप किया। दोनों भाइयों ने, सीतादेवी की ऐसी दीनदशा देख कर, राक्षस के कंधे पर चढ़े ही चढ़े, तलवार से उसकी दोनों भुजायें काट डालीं और उसको खींचकर

तलवार से उसके टुकड़े टुकड़े कर दिये। उसको मार कर उन्होंने भूमि में गाड़ दिया। इस तरह विराध को मार कर दोनों भाई भय-विह्वला सीतादेवी के पास आये और उन्होंने उनको समझा कर उनका डर दूर किया।

यद्यपि इस एक ही दुर्घटना को देख कर सीतादेवी को वनवास के दुःखों का अनुभव हो गया था तथापि वे विचलित नहीं हुईं। कारण यह कि वे स्वामी के साथ रहने में कठिन से कठिन दुःख को भी सहने के लिए तैयार रहती थीं। स्वामी के सहवासजन्य आनन्द के सामने भारी से भारी दुःख को भी वे कुछ नहीं समझती थीं। और वास्तव में पतिव्रता नारी के लिए पतिदेव के साथ रह कर उनकी सेवा करने में जो आनन्द मिलता है वैसा उसको और कहीं मिल भी नहीं सकता। यही कारण था कि पतिदेव के साथ रहने के कारण सीता-देवी के मन में तनिक भी शङ्का या भय न हुआ। वे स्वामी और देवर के साथ पूर्ववत् वन में भ्रमण करने लगीं। वह वन बड़ा ही भयङ्कर और दुर्गम था। ऐसा विकट वन उन्होंने इससे पहले और कहीं नहीं देखा था। इस कारण रामचन्द्रजी वहाँ किसी ऐसे स्थान की खोज में फिरने लगे जो निरुपद्रव हो, भयशून्य हो और सीताजी के लिए सब प्रकार से निवास करने योग्य हो।

थोड़ी दूर चल कर वे महर्षि शरभङ्ग के आश्रम में पहुँच गये। महर्षि शरभङ्ग ने उनका बहुत अच्छी तरह आतिथ्य-सत्कार किया। शिष्टाचार हो चुकने पर रामचन्द्रजी ने महर्षि से पूछा कि "महाराज, आप कृपा करके हमारे रहने के लिए कोई ऐसा स्थान बताइए कि जहाँ हम लोग सुखपूर्वक निवास करें।" तदनन्तर शरभङ्ग ऋषि ने उनको सुतीक्ष्ण ऋषि के पास जाने की सम्मति दी। रामचन्द्रजी वहाँ से चलने को ही थे कि इतने में शरभङ्ग ऋषि स्वर्ग को पधार गये। उनके स्वर्गारोहण

का समाचार सुन कर आस पास के बहुत से ऋषि-मुनि और तपस्वी वहाँ आये और उनके कितने ही शिष्य भी आकर इकट्ठे हो गये। उन सब ऋषियों ने एकत्र होकर रामचन्द्रजी से कहा कि "भगवन्, यहां हम लोगों को दुष्ट राक्षस बहुत दुःख देते हैं। आप उन राक्षसों को मार कर हमारी रक्षा कीजिए।" राजा ही धर्म का रक्षक होता है। यदि वही धर्म की रक्षा नहीं कर सकता तो और कौन कर सकता है। रामचन्द्रजी इन सब बातों को अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने शरणागत ऋषियों को अभय प्रदान किया। उन्होंने उनसे कह दिया कि यह सत्य है कि मैं पिता की आज्ञा के पालन करने के लिए वन में आया हूँ परन्तु इस समय मैं सर्वथा आप लोगों के अधीन हूँ। आप लोगों के धर्ममार्ग में कण्टक रूप राक्षसों को मार कर मैं अवश्य आप लोगों की सेवा करूँगा। आप लोगों का भय दूर करना ही इस समय मेरा परम धर्म है। मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ मेरे छोटे भाई महावीर लक्ष्मण भी हैं। इनकी सहायता से मैं दुष्ट राक्षसों का संहार कर सकता हूँ। आप लोग निर्भय होकर तपस्या कीजिए और जहाँ चाहें वहाँ सुखपूर्वक रहिए।

इस प्रकार शरभङ्ग ऋषि के आश्रम में ऋषि-मुनियों को अभय प्रदान करके रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी को साथ लेकर, सुतीक्ष्ण ऋषि के आश्रम में जा पहुँचे। महर्षि सुतीक्ष्ण ने भी इनका समुचित सत्कार किया और वहीं कुछ दिन ठहरने के लिए भी बहुत आग्रह किया। परन्तु रामचन्द्रजी ने वहाँ ठहरना स्वीकार न किया। वे रात भर वहाँ विश्राम करके प्रातःकाल मुनि से कहने लगे—"भगवन्, आपने हमारा बहुत सत्कार किया। हम आपके इस सत्कार के लिए अत्यन्त कृतज्ञ रहेंगे। अब आप हमको आज्ञा दीजिए तो हम इस दण्डक वन के समस्त आश्रमों का दर्शन कर लें।" महर्षि ने जाने की

आज्ञा देते समय कहा कि बहुत अच्छा, आप दण्डक वन के समस्त आश्रमों का दर्शन कीजिए। परन्तु एक प्रार्थना है। वह यह कि लौटते समय इधर भी अवश्य दर्शन दीजिएगा।

जब से रामचन्द्रजी ने ऋषि-मुनियों के सामने राक्षसों के मारने की प्रतिज्ञा की थी तभी से जानकीजी के मन में नाना प्रकार की चिन्तायें उठने लगीं। उसी दिन से उनका चित्त चञ्चल हो उठा। तभी से सीतादेवी के मन में रामचन्द्रजी के प्रति कुछ बात कहने की इच्छा प्रबल हो रही थी। परन्तु अभी तक उपयुक्त अवकाश न मिलने के कारण वे उनसे कुछ बात न कह सकीं। सीतादेवी रामचन्द्रजी की साधारण पत्नी या सहचारिणी ही नहीं थीं किन्तु वे उनकी सहधर्मिणी और जीवनमार्ग की सङ्गिनी थीं। सीताजी इस बात को खूब अच्छी तरह जानती थीं कि धर्मसाधन ही मनुष्य-जन्म की सफलता है; धर्म-प्रचार ही मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश है। विवाह ही धर्म-साधन में परम सहायक होता है। इसी कारण विवाह की इतनी प्रतिष्ठा और पवित्रता विख्यात है। इसी पवित्र विवाह-सूत्र में ग्रथित होकर दो मानवात्मा एक रूप हो जाते हैं और वे दोनों ही परस्पर एक दूसरे के बल से बलिष्ठ होकर धर्म के कठिन मार्ग पर चलने के लिए समर्थ हो जाते हैं। केवल विवाह के द्वारा ही दोनों अपूर्ण मानवात्मा पूर्णत्व को प्राप्त हो जाते हैं। स्वामी अपने पुण्यबल से स्त्री की रक्षा करता है और स्त्री अपने पुण्यप्रताप से स्वामी की रक्षा करती है। इसी प्रकार परस्पर एक दूसरे की रक्षा करके दोनों सुरक्षित रह कर धर्म का साधन करते हैं। इन दोनों में से यदि कोई एक भी निर्बल हो तो दूसरा भी निर्बल पड़ जाता है, दूसरे की भी हीन दशा हो जाती है। इस लिए उनको विवाह के द्वारा पहले पूर्ण बलिष्ठ होकर पीछे धर्मसञ्चय करना चाहिए। जहां जिस धर्म में स्त्री का अधिकार नहीं, स्त्री का

मान नहीं और पति के ऊपर स्त्री का कुछ भी स्वत्व नहीं वहां विवाह का नाम लेना ही व्यर्थ है । जहां परस्पर एक का दूसरे पर अधिकार नहीं, एक का दूसरे पर विश्वास नहीं और एक की दूसरे में श्रद्धा नहीं, वहां विवाह निष्फल है । विवाह की सफलता दोनों पति-पत्नियों के ऐक्य पर ही निर्भर है । पत्नी का पत्नीत्व ही इसी में है कि उसका अधिकार पूर्णरूप से स्वामी पर हो । स्त्री का क्या अधिकार है और उसका क्या धर्म है—सीतादेवी इस बात को अच्छी तरह जानती थीं इसी कारण वे स्वामी की केवल शारीरिक और मानसिक उन्नति का ही विचार नहीं रखती थीं किन्तु उनकी आत्मिक उन्नति की भी चिन्ता उनको सर्वदा बनी रहती थी । जिस कार्य के करने से स्वामी के धर्म में बाधा पहुँचने की आशङ्का होती थी सीतादेवी स्वामी को उस काम से अलग रहने के लिए पूर्ण उद्योग करती थीं । वास्तव में सीतादेवी अपने स्वामी में अपूर्व श्रद्धा और भक्ति रखती थीं । वे सदा पतिदेव की विद्या, बुद्धि और पवित्र धर्मज्ञान की प्रशंसा किया करती थीं । वास्तव में रामचन्द्रजी भी अनुपम धर्मात्मा थे । वे सीताजी की अपेक्षा विशेष धर्मज्ञ थे और इसी लिए वे सीतादेवी के उपदेश के पात्र नहीं थे । इस बात को हम यों ही नहीं कहते, किन्तु सीतादेवी का भी यही विश्वास था । ऐसा होने पर भी सीताजी, जब कभी रामचन्द्रजी को किसी कर्तव्य कार्य्य से विमुख देखती थीं, तभी विनयभाव और मधुर वाक्यों से उनको उस काम में प्रवृत्त करने का पूर्ण उद्योग किया करती थीं। वास्तव में यह स्त्रियों को अधिकार भी है। इसी अधिकार को वे अच्छी तरह समझती थीं । यहां पर इस बात के कहने की कुछ भी आवश्यकता नहीं कि रामचन्द्रजी उनकी बातों—परामर्शों—का कभी अनादर नहीं करते थे । जब कभी सीताजी किसी विषय में कुछ कहतीं, रामचन्द्रजी उनकी बातों को बड़े ध्यान से सुनते और

आदरपूर्वक ग्रहण करते थे ! वे भी सीताजी की बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। वास्तव में स्त्री-पुरुषों में परस्पर श्रद्धा का होना ही पारस्परिक प्रेम की मूल भित्ति है। जहां यह भित्ति नहीं वहां पवित्र दाम्पत्य-प्रेम कहां ! जहां प्रेम नहीं, वहां आनन्द कहां !

हां, यह तो हम पहले लिख चुके हैं कि राक्षसों के मारने की प्रतिज्ञा सुन कर सीताजी रामचन्द्रजी से कुछ बात कहना चाहती थीं। परन्तु अब तक उस विषय में बात-चीत करने का अवकाश न पाने के कारण वे उसकी कुछ चर्चा न कर सकीं। जब वे सुतीक्ष्ण ऋषि के आश्रम से कुछ दूर निकल गये तब, मार्ग में, अवसर देख कर सीताजी ने रामचन्द्रजी से कहा—"प्राणपते, धर्म की गति बड़ी अगम्य है। जब तक मनुष्य सब प्रकार के व्यसनों को परित्याग नहीं करता तब तक वह धर्म का साधन नहीं कर सकता। संसार में जितने दुर्व्यसन हैं उनमें तीन महाव्यसन हैं। मिथ्या-कथन, इन्द्रियाधीनता और अकारण क्रोध। पहले दोनों व्यसन तो कभी आप में नहीं हुए ! परन्तु यह अकारण प्राणियों की हिंसारूप दोष अब आप में आया ही चाहता है। अभी तक आपने अकारण हिंसा कभी नहीं की, पर न जाने अब आपने क्यों ऐसा भारी पाप करने का विचार किया है। उस दिन आपने ऋषियों के सामने राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा की थी। इसी लिए आप धनुर्बाण लिये घोर दण्डक वन को जा रहे हैं।

परन्तु मेरा मन अत्यन्त चञ्चल हो रहा है। मैं आपकी बातों के विषय में सोचती हूँ तो पद पद में विषम उद्वेग उपस्थित होता है। मैं आपका दण्डक वन में जाना अच्छा नहीं समझती। वहां जाने में मैं हानि के अतिरिक्त लाभ तनिक भी नहीं देखती। वहाँ जाने पर राक्षसों के साथ अवश्य आपका युद्ध होगा। कारण यह है कि आप सशस्त्र हैं

और शस्त्र पास होने से क्षत्रियों का बल बढ जाता है। इस कारण मैं चाहती हूँ कि आप दण्डक वन में न जायँ।

इतना ही नहीं, सीताजी ने एक आख्यायिका सुना कर रामचन्द्रजी को बहुत समझाया। उन्होंने कहा—"नाथ, एक बार कोई राजा किसी ऋषि के पास तलवार रख गया था। वह ऋषि उस तलवार की रक्षा में ऐसा तत्पर हुआ कि सदा उसे साथ रखता था। उसको छोड कर वह कहीं नहीं जाता था। इसी तरह होते होते उस ऋषि का स्वभाव बदल गया। उसके हृदय मे हिंसा-वृत्ति जाग उठी। फिर जंगली जीवों के मारने का उसको यहाँ तक व्यसन होगया कि उसकी सारी तपस्या पर पानी फिर गया। उसकी सारी पूजा-अर्चा मिट्टी में मिल गई। इसलिए शस्त्र के पास रखने से मनुष्य का हृदय हिंसावृत्ति से भर जाता है। हे नाथ, मैं आपको शिक्षा नहीं करती, उपदेश नहीं देती। मैंने स्नेह के वश होकर आपको केवल यह स्मरण दिला दिया है कि शस्त्र के पास रखने से साधु जन के विमल चित्त मे भी विकार पैदा हो जाता है। निरपराधी जीवों का मारना उचित नहीं। यदि आपको ऋषियों की रक्षा ही करनी है तो उनके सतानेवाले शत्रुओं को मारिए। यह नहीं कि अपराधी और निरपराधी का विचार विना किये ही सबको मारने की इच्छा करना। आप तो वन मे मुनियों का वेश धारण करके आये हैं और यही राजा की आज्ञा भी थी। फिर शस्त्र धारण कर के निरपराधी प्राणियों के मारने की यह बुरी इच्छा क्यों! कहाँ शस्त्र और कहाँ वनवास! कहाँ क्षत्रियों का क्रूर धर्म और कहाँ तपस्वियों की अनुपम दयाभरी सहनशीलता! ये दोनों काम परस्पर विरोधी हैं। या तो वन में रह कर तपस्या ही कर लीजिए या प्राणियों की हिंसा। एक समय में एक ही काम हो सकता है। दोनों नहीं। मैं आपसे आग्रह नहीं करती। परन्तु मैं यह चाहती

हूँ कि आप मुनि-धर्म का पालन करें। आप पवित्रात्मा होकर धर्म का आचरण कीजिए। आप दयालु हैं, दयावृत्ति का पालन कीजिए। धर्म का विघात करना आपके लिए शोभा नहीं देता। धर्म से ही अर्थ, धर्म से ही सुख और धर्म से ही सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं। 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः,' आपके सामने धर्म के विषय में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। आप स्वयं सब धर्मों के मर्म को अच्छी तरह जानते हैं। मैं जो कुछ कह रही हूँ वह सब स्त्रीजाति की स्वाभाविक चपलता के कारण ही कहती हूँ। वास्तव में आपको कोई भी उपदेश देने योग्य नहीं है। इस समय आप लक्ष्मण के साथ अच्छी तरह विचार कर देख लीजिए, फिर जो उचित हो, जो धर्म हो, वही कीजिएगा।" [वा० रा० काण्ड ३, सर्ग ९]

रामचन्द्रजी, बड़े विद्वान्, बड़े धीर और विचारशील थे। वे अपनी पतिप्रिया प्रियतमा की बातों को सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनके उत्तर मे कहा—"प्रिये, राक्षसों से सताये जाने पर अनेक ऋषि-मुनि हमारे पास आये थे। उन्होंने दीन होकर हमसे अपनी रक्षा की प्रार्थना की थी। उस समय हमने उनसे प्रतिज्ञा की थी कि हम राक्षसों को मार कर तुम्हारी और तुम्हारे धर्म की रक्षा करेंगे। आर्त की रक्षा करना क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य है। हमने अपने क्षात्र धर्म के पालनार्थ उनसे ऐसी प्रतिज्ञा की थी। नरमांसभक्षी दुष्ट राक्षसों को मार कर इस वन को अकंटक बनाना हमारा प्रधान कर्तव्य है। इसी कारण हमने ऋषियों की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया है। हमे सत्य बहुत प्रिय है। सत्य के समान हमें संसार मे दूसरी वस्तु प्रिय नहीं है। प्रतिज्ञा करके, मुँह से वचन निकाल कर, हम अन्यथा नहीं कर सकते। हम अपने वचनों को प्राणों से भी अधिक प्रिय समझते हैं। चाहे प्राण चले जायँ परन्तु वचन नहीं टल सकते। चाहे लक्ष्मण का और तुम्हारा

भी परित्याग करना पड़े, परन्तु मैं एक बार प्रतिज्ञा करके उसको भंग नहीं कर सकता। यदि ऋषि प्रार्थना न करते तो भी हमको उनकी रक्षा करनी चाहिए थी; और अब तो उनके सामने हम प्रतिज्ञा कर चुके, उनको वचन दे चुके, उनकी रक्षा का भार अपने सिर पर उठा चुके। अब सत्य से नहीं फिर सकते। जानकि, तुमने स्नेह के कारण जो कुछ कहा है, उससे हम रुष्ट नहीं, प्रसन्न हुए हैं। परन्तु हमको यह प्रकट करने में भी कुछ संकोच नहीं कि जो बात तुमने अपने मुँह से निकाली है वह तुम्हारे और तुम्हारे कुल के लिए शोभा नहीं देती। तुम हमको प्राणों के समान प्यारी हो। अब तुम भी हमारी सम्मति और विचार के अनुकूल हो जाओ।

सीतादेवी सच्ची पतिव्रता थीं। वे स्वामी के वाक्यों को सुनते ही सन्तुष्ट हो गईं। उन्होंने फिर स्वामी के संकल्प के विरुद्ध कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया।

तदनन्तर सीताजी और लक्ष्मणजी को साथ लेकर रामचन्द्रजी दण्डक वन में भ्रमण करने लगे। उन्होंने वहाँ कितने ही आश्रम, नद, नदियाँ, पर्वत, गुफायें, वन, उपवन, सरोवर आदि का दर्शन किया। दण्डकवन के नाना प्रकार के दृश्यों को देख कर उनको बहुत हर्ष हुआ। उस वन में कहीं नाना प्रकार के पक्षी उड़ रहे थे, कहीं सिंह, बाघ, हाथी आदि पशु शब्द कर रहे थे, कहीं झरने झर रहे थे और कहीं विकटाकार राक्षस भ्रमण कर रहे थे। कभी उनके हृदय में आनन्द होता था और कभी कुछ भय। कहीं ऋषियों से मिल कर रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को बहुत आनन्द मिलता था और कहीं ऋषिपत्नियों और ऋषि-कन्याओं से वार्तालाप करके सीतादेवी को बड़ी प्रसन्नता होती थी। उस समय उनके हृदय में जितना आनन्द होता था वह कहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार उन्होंने उस वन में

कहीं एक वर्ष, कहीं छः महीने, कहीं चार महीने, कहीं दो महीने और कहीं दस-पांच दिन ही ठहर ठहर कर दस वर्ष व्यतीत कर दिये।

इस प्रकार दण्डकारण्य में भ्रमण कर चुकने पर सत्यप्रतिज्ञ रामचन्द्रजी सुतीक्ष्ण ऋषि के आश्रम में लौट आये। फिर कुछ दिन वे सुखपूर्वक वहीं रहे। वहीं रहते हुए उन्होंने एक दिन अगस्त्य मुनि का दर्शन किया। उनसे मिल कर वे बहुत प्रसन्न हुए। अगस्त्यमुनि के आश्रम का दर्शन करके फिर वे एक दिन अगस्त्यमुनि के भाई इध्मवाह के तपोवन में गये। वह तपोवन बड़ा रमणीय था। वहां से लौट कर वे फिर अगस्त्यमुनि से मिले। रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के विनयादि सद्गुणों को देख कर मुनि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तीनों को आशीर्वाद दिये। आशीर्वाद देने के पश्चात् मुनि महाराज ने रामचन्द्रजी से कहा—रघुपुङ्गव, वन में भ्रमण करने से तुम थक जाते होगे। सीताजी वन मे फिरने योग्य नहीं हैं। दुर्गम वन में भ्रमण करने से सीताजी को बहुत दुःख होता होगा। हे राम, इसलिए तुम कोई ऐसा उपाय करो कि जिससे सुकुमारी सीतादेवी को सुख मिले। इन्होंने अपने धर्म का पालन करके अपने जीवन को सफल किया है। राज पाट छोड़ कर तुम्हारे साथ वन में आने के कारण सीतादेवी का नाम समस्त पतिव्रता नारियों में पूजनीय समझा जायगा। तुम चाहो तो लक्ष्मण और सीतादेवी के साथ इसी आश्रम में सुख से रह सकते हो।

अगस्त्य मुनि की बातें सुन कर रामचन्द्रजी ने उनसे अपने रहने के लिए एकान्त में कोई स्थान पूँछा। मुनि ने थोड़ी देर सोच कर उन के रहने के लिए एक स्थान बता दिया, जो वहां से कोई ७-८ कोस की दूरी पर था। उस स्थान का नाम पञ्चवटी वन था। वह बड़ा रमणीय था। मुनि के परामर्शानुसार रामचन्द्रजी ने पंचवटी पर जाने का

संकल्प कर लिया। और महर्षि को प्रणाम करके लक्ष्मणजी और सीताजी को साथ लेकर वे वहाँ चले भी गये।

पंचवटी की शोभा को देख कर रामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए। वास्तव में पंचवटी स्थान ही ऐसा था। आदिकवि वाल्मीकि ने पंचवटी का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। उन्हीं के वर्णन का कुछ सारांश हम यहाँ लिखते हैं।

उस आश्रम में समीप ही गोदावरी नाम की एक नदी बहती थी। उसका जल बड़ा मधुर और स्वादिष्ट था। जगह जगह सुन्दर सरोवर थे, जिनमें सुगन्धित कमल-पुष्प खिल रहे थे। गोदावरी और सरोवरों के तीर पर हंस, सारस चक्रवाक आदि पक्षी निरन्तर क्रीड़ा किया करते थे। गोदावरी और सरोवरों के किनारे पुष्पित वृक्षावली की शोभा देखने ही योग्य थी। जहाँ तहाँ मोर केका-वाणी बोलते हुए नृत्य कर रहे थे; कोयल कुहू कुहू करके आकाश को गुँजा रही थी। पास ही एक ओर की पर्वत-माला आकाश में काले काले बादलों के समान शोभा दे रही थी। उस वन में नाना जाति के वृक्ष थे। साल, ताल, तमाल, खजूर, आम, अशोक, अर्जुन, चम्पा, केतकी, चन्दन, ढाक आदि फूलों और लताओं से लदे हुए दर्शक के मन को हरे लेते थे। उस वन की अपूर्व शोभा को देख कर सीताजी के मन को जितना आनन्द हुआ वह कहा नहीं जा सकता। अपनी प्रियतमा सीतादेवी की इच्छा देख कर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को, वहीं एक कुटी निर्माण करने की आज्ञा प्रदान की। वहाँ क्या देर थी। भ्रातृभक्त लक्ष्मणजी ने आज्ञा पाते ही बड़ी सुन्दर रमणीय एक पर्णशाला बना कर तैयार कर दी। लक्ष्मणजी की तैयार की हुई सुन्दर पर्णकुटी को देख कर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी का प्रेम से आलिङ्गन किया। तदनन्तर भाई और प्रियतमा के साथ रामचन्द्रजी उस पर्णकुटी में रहने लगे। उस मनोरम स्थान में

रह कर और उस वन की अपूर्व शोभा का अवलोकन करके सीतादेवी ऐसी प्रसन्न रहने लगीं कि वे उस पञ्चवटी के आनन्द के सामने अपने घर के राज-पाट का सारा सुख भूल गईं। उस निर्जन, परन्तु अत्यन्त रमणीय, आश्रम में रह कर उनको इतना अधिक आनन्द-लाभ हुआ कि उसके सामने पितृगृह का सुख भी तुच्छ प्रतीत होने लगा।

परन्तु हाय! सीते! तुमको कुछ भी मालूम नहीं, तुमको अभी तक कुछ भी पता नहीं और तुमको अभी तक उस बात का विचार तक नहीं कि, जिस मनोहर आश्रम मे इस समय तुम अपने प्राणनाथ के साथ स्वतन्त्रता से रह कर आनन्द प्राप्त कर रही हो, एक दिन इसी आश्रम मे अपने प्राणेश्वर के वियोग में विलाप करते करते तुम्हारे हाहाकार से, हृदय-विदारक रोदन से, सारा आकाश गूँज उठेगा। हाय! यह कौन कह सकता था कि जिस स्थान को सीताजी ने अपना आनन्दभवन मान रक्खा था, और मान ही नहीं रक्खा था, किन्तु वास्तव मे ऐसा था ही, वही स्थान एक दिन उनके लिए, नरकयातना से भी अधिक भयावह हो जायगा।

ऐसी रमणीय पञ्चवटी पर सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ रामचन्द्रजी सानन्द निवास करने लगे। वहाँ रह कर सीतादेवी और लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी की बड़ी श्रद्धापूर्वक सेवा की। उन दोनों की सेवा-शुश्रूषा से रामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए। जिस समय इनकी पर्णकुटी के सामने समीप ही आकर मोर अपने सुन्दर रंग-विरंग पंखों को फैला कर नाचते थे उस समय सीतादेवी को असीम आनन्द होता था। जब सीतादेवी अपने स्वामी के साथ प्रातः-सायं भ्रमण करने के लिए वन मे जाती थीं तब विचरते हुए हिरन के बच्चे हरिण-नयनी सीतादेवी के मुख को देख कर खड़े के खड़े रह जाते थे। सीता-देवी की सौम्य मूर्ति को देख कर वे तनिक भी भयभीत न होते थे।

वे कभी उनके मुख की ओर मुख उठा कर देख लेते थे और कभी नि.शङ्कभाव से हरी हरी घास चरने लगते थे। शान्तस्वभावा सीतादेवी से वे इतने परिचित हो गये थे कि मानो वे उन्हीं के पालू बच्चे हैं। वे सीतादेवी के पीछे पीछे फिरा करते थे। सीतादेवी की पर्णकुटी के पास ही नाना प्रकार के पक्षी वृक्षों पर आ आ कर बैठते और आनन्द से नाना प्रकार की बोलियाँ सुना कर उनके कानों में अमृत-धारा बरसाते थे। जिस समय सीताजी अपने कर-कमलों से सुन्दर और सुगन्धित पुष्पों की माला बना बना कर स्वामी के कण्ठ में पहनातीं और नाना प्रकार के फूलों के गहने बना बना कर अपने शरीर में धारण करती थीं उस समय उनको जो आनन्द होता था उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अपनी प्रियतमा को पुष्पालङ्कारों से अलङ्कृत देख कर रामचन्द्रजी के हृदय में एक अद्भुत प्रकार का भाव उदय हो उठता था। एक बार रामचन्द्रजी ने अपने हाथ से फूल तोड कर उनके कर्णभूषण बनाये और बना कर अपने ही हाथ से उन्होंने सीताजी के कानों मे पहनाये। सीतादेवी के कानों में कण्ठ तक लटकते हुए वे कर्णभूषण बहुत ही भले लगते थे। पतिदेव के द्वारा इतना आदर सत्कार पाकर सीतादेवी मारे लज्जा के सङ्कुचित हो गईं। उस समय सीतादेवी की मुखाकृति पर लज्जा और आनन्द दोनों ही स्वभाव से विराजमान हो रहे थे। कभी कभी सीतादेवी स्वामी के साथ सरोवरों मे खिले हुए कमल-पुष्पों को तोड़ने के लिए जाया करती थीं और कभी कभी गोदावरी के किनारे जाकर राजहंसों और सारसो को देख देख कर प्रफुल्लित होती थीं। जिस समय सीतादेवी गोदावरी के तट पर पतिदेव के साथ मन्द मन्द चलती थीं उस समय उनके नूपुरों की मधुर-ध्वनि को सुन कर राजहंसिनी भी चकित होकर देखने लगती थीं और उनकी चाल का अनुकरण करती थीं। कभी कभी

इच्छानुसार सीतादेवी पति के साथ बड़े ऊँचे पर्वत के शिखर पर चढ़ जातीं और गिरिकन्दराओं को देख कर बड़ी प्रसन्न होती थीं। जिस प्रकार रामचन्द्रजी और सीतादेवी दोनों वन की शोभा को देख कर आनन्द में मग्न रहते थे उसी तरह लक्ष्मणजी भी अपने धर्म का पालन करके सदा प्रसन्न रहते थे। रामचन्द्रजी और सीताजी की आज्ञा का पालन करना और तन-मन से उनकी सेवा करना ही उनका मुख्य धर्म था। उसी धर्म के पालन करने में वे सदा तत्पर रहते थे। वे प्रति दिन गोदावरी नदी से जल भर कर लाया करते थे और वन में से फल, फूल, कंद, मूल, कुश, समिधा और पत्ते आदि आवश्यक वस्तुएँ भी अपने ही हाथ से तोड़ कर लाते थे। लक्ष्मणजी की परिचर्या से रामचन्द्रजी और सीतादेवी दोनों बहुत प्रसन्न रहते थे। जब कभी वे एकान्त में बैठते तभी परस्पर लक्ष्मणजी की सेवा और भक्ति की प्रशंसा करके प्रसन्न होते थे। सीतादेवी ने अपने मनोरञ्जन के लिए कुटी के आस-पास बहुत से पौदे लगा रक्खे थे। प्रातः सायं दोनों समय अपने ही हाथ से वे उनको सींचा करती थीं।

पाठक, आप यह न समझिएगा कि रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी तीनों सदा योंही केवल मनोरञ्जन में ही सारा समय व्यतीत करते थे, नहीं, वे सब काम समय समय पर किया करते थे। भजन-पूजन के समय वे भजन-पूजन करते थे, भ्रमण के समय भ्रमण करते, मिलने के समय वे ऋषि-मुनियों के साथ वार्त्तालाप किया करते थे और प्रतिदिन किसी न किसी समय शास्त्र की चर्चा भी अवश्य किया करते थे। सारांश यह कि वे अपने समय को कभी व्यर्थ नहीं खोते थे।

वे इसी प्रकार पंचवटी पर सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे। परन्तु उनके लिए वे सुख-स्वातन्त्र्य के दिन बहुत दिन तक न रहे। कुछ दिन पश्चात् उनको एक बहुत भारी आपत्ति का सामना करना

पड़ा। सुनिए। एक दिन रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी तीनों कुटी में सानन्द बैठे थे। इतने में ही एक राक्षसी घूमती फिरती उधर आ निकली। जब वह उनकी कुटी के सामने आई तब लक्ष्मणजी के मनोहर रूप को देख कर मोहित हो गई। जब उसकी दृष्टि रामचन्द्रजी के रूपलावण्य पर पड़ी तब वह और भी अधिक मोहित हो गई। दोनों भाइयों के अलौकिक रूप-लावण्य को देख कर दुष्टा राक्षसी के मन में पाप समा गया। उनको देखते ही उसके हृदय में पाप की ज्वाला प्रबल हो उठी। वह उन दोनों में से किसी एक को पति बनाने की इच्छा करने लगी। उसके घृणित भाव को समझ कर रामचन्द्रजी ने उसको बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा और बड़ा दुरदुराया। इसी प्रकार लक्ष्मणजी ने भी उसको बहुत फटकारा। दोनों भाइयों ने उसकी बड़ी हँसी उड़ाई और उसको बेतरह फटकारा। दोनों भाइयों के रूखे बर्ताव से राक्षसी को बहुत क्रोध आया। उसने क्रोध में भर कर कहा कि देखो, जिसके अभिमान से तुम दोनों इतने अभिमानी हो रहे हो उस नारी को मैं अभी खाये डालती हूँ। अब मैं इस कुरूपा स्त्री को मार कर खाये लेती हूँ। इसके मर जाने पर तुम बेखटके मेरे साथ ब्याह कर लेना। इतना कहते ही दुष्टा राक्षसी सीतादेवी को खाने के लिए दौड़ी। यह देखते ही दोनों भाई घबरा उठे। मारे क्रोध के दोनों के नेत्र बलने लगे। आर्यधर्मशास्त्रों में स्त्री का मारना अधर्म बतलाया गया है। इसलिए वे उसको जान से तो मार नहीं सकते थे। लक्ष्मणजी ने बड़े भाई का संकेत पाकर अपनी तलवार से उस राक्षसी के नाक-कान काट डाले। विरूप होने पर राक्षसी मारे पीड़ा के वहाँ से चिल्लाती हुई भग गई।

उस राक्षसी का नाम सूर्पणखा था। उसके नख छाज के समान लंबे थे। परमप्रतापी राक्षसेश्वर राजा रावण की वह बहन थी। रावण

लङ्काद्वीप का अधीश्वर था। उसके खर और दूषण नामक दो भाई भी उसी वन में रहते थे। उनके साथ कोई चौदह सहस्र राक्षसों की सेना थी। वे सब उसी दुष्टा राक्षसी की रक्षा में रहा करते थे। जनस्थान नामक प्रदेश उनका मुख्य निवासस्थान था। वे सब राक्षस जनस्थान के आस पास रहने वाले तपस्वियों को बहुत कष्ट दिया करते थे। वह राक्षसी रोती चिल्लाती खर-दूषण के पास दौड़ा गई। उसने अपनी सारी कथा उनसे कह सुनाई। अपनी बहन के नाक-कान कटे देख कर खर-दूषण को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने रामचन्द्रजी को पकड़ने के लिए अपनी सेना को आज्ञा दी। वहां क्या देर थी। खर-दूषण की आज्ञा पाते ही सारी सेना शस्त्र-अस्त्र लेकर युद्ध के लिए तैयार हो गई। चौदह सहस्र सैनिकों को साथ लेकर वे राक्षस रामचन्द्रजी को पकड़ने के लिए चल दिये। दूर से आकाश में धूल उड़ती देख और महा कोलाहल सुन कर रामचन्द्रजी भी सावधान हो गये। उन्होंने समझ लिया कि बस वही दुष्टा शूर्पणखा राक्षसी अपने भाई-बन्धुओं को चढ़ा कर लाई होगी। रामचन्द्रजी ने और अधिक विचार न करके लक्ष्मणजी को आज्ञा दी कि तुम सीता को लेकर किसी पर्वत की कन्दरा में जा छिपो। रामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मणजी सीताजी को लेकर एक पर्वत की सुरक्षित गुफा में जा बैठे। इतने में ही समुद्र की तरह उमड़ती हुई राक्षसों की सेना चारों ओर से रामचन्द्रजी के ऊपर आ टूटी। महावीर रामचन्द्रजी धनुषबाण हाथ में लेकर अकेले ही निर्भयता से युद्ध करने लगे। उनके अपूर्व युद्ध-कौशल, असीम साहस और भयंकर पराक्रम को देख कर सारे राक्षस भयभीत हो गये। अकेले रामचन्द्रजी ने बड़ी धीरता और वीरता से युद्ध किया। जब सहस्रों राक्षस रामचन्द्रजी के तीक्ष्ण-बाणों से कट कट कर रणभूमि में गिरने लगे तब खर और दूषण आदि राक्षस क्रोध

में भर कर रामचन्द्रजी पर बाणों की वर्षा करने लगे। उन्होंने यथाशक्ति बड़ी वीरता से युद्ध किया, परन्तु वे शत्रुसूदन रामचन्द्रजी को परास्त न कर सके। इस प्रकार बहुत देर तक लोमहर्षण युद्ध होने के पश्चात् वे खर-दूषण आदि राक्षस रामचन्द्रजी के विपाक्त बाणों के द्वारा मर कर भूमि पर गिर पड़े। रामचन्द्रजी का विजय हुआ। युद्ध समाप्त होने पर लक्ष्मणजी सीताजी को कुटी मे ले आये। युद्ध में स्वामी का विजय सुन कर सीताजी को अपार आनन्द हुआ।

लक्ष्मणजी ने बेचारी शूर्पनखा के नाक-कान ऐसे अशुभ मुहूर्त में काटे थे कि वह जिन राक्षसों को अपनी सहायता के लिए चढ़ाकर लाई थी वे भी सब महावीर रामचन्द्रजी के प्रबल पराक्रमानल में गिर कर पतंगों की तरह भस्म हो गये। जब उस राक्षसी ने सब सेना-सहित अपने भाई खर-दूषण को मरा हुआ देखा तब वह रोती-चिल्लाती हुई भाग कर लंका में रावण के पास गई। उसने रो रो कर अपना सारा दुखड़ा रावण को सुना दिया। अपनी बहन के नाक-कान कटने और खर-दूषण आदि महाबली राक्षसों के मारे जाने का समाचार सुन कर रावण मारे क्रोध के जल उठा। उसके होठ फड़कने लगे, नेत्र लाल हो गये और वह क्रोध में भर कर जीभ से होठ चाटने लगा। शूर्पणखा ने उससे कहा कि उनके पास एक नारी रत्न भी है जिसके रूप-लावण्य की समता देवाङ्गनायें भी नहीं कर सकतीं। अकेली सीता का रूप ऐसा मनोहर है कि सारा वन उसके रूप से सुशोभित रहता है। सीता बड़ी पतिप्रेमिणी है। राम भी सीता को प्राणों के समान प्रिय समझते हैं। राम का छोटा भाई लक्ष्मण भी उनका अनन्य सेवक है। हे रावण, यदि तुम सीता को किसी तरह यहाँ ले आओ तो तुम्हारी लङ्का की शोभा चौगुनी बढ़ जायगी। सीता के समान तुम्हारे रनिवास में एक भी स्त्री नहीं है। सीता के ले आने से

'एक पन्थ दो काज' की कहावत चरितार्थ हो जायगी। अर्थात् एक तो सीता के अभाव में रामचन्द्र निश्चय ही मर जायँगे और भाई के मर जाने पर लक्ष्मण भी कभी जीवित नहीं रह सकेंगे। और दूसरे तुमको नारीरत्न का लाभ होगा। तुम जितनी देवकन्यायें अपने रनिवास के लिए लाये हो, उनमें से एक भी सीता के समान सुन्दरी नहीं। परन्तु एक बात मैं पहले से ही कहे देती हूँ कि तुम युद्ध में उनको जीत कर सीता को नहीं ला सकते। कारण यह कि राम और लक्ष्मण दोनो भाई महाबली और महापराक्रमी हैं। मुझको अच्छी तरह निश्चय हो गया है कि तुम उनको युद्ध में परास्त नहीं कर सकोगे। इसलिए यदि तुम, सीता को लाना चाहते हो तो उसको छल से हर लाओ। इस उपाय से, बिना रक्तपात किये ही, तुम्हारे शत्रु का मूलोच्छेद हो जायगा।

रावण बड़ा दुराचारी और पापी था। यद्यपि वह एक प्रतिष्ठित और उच्च कुल में उत्पन्न हुआ था, पर कर्म उसके बड़े भयंकर थे। इसी लिए वह राक्षस कहलाता था। 'यथा राजा तथा प्रजा'। जैसा वह अनाचारी और निर्दयी था वैसे ही उसको सब साथी मिल गये। लंका में जितने दुष्ट राक्षस जन रहते थे उन सबका वह शिरोमणि था। यद्यपि उसके शरीर में महाबल था तथापि उसने अपने बल के द्वारा सदा साधुजनों को कष्ट ही पहुँचाया। यद्यपि वह विद्वान् था और शास्त्रों के मर्म को अच्छी तरह जानता था तथापि बचपन से ही कुशिक्षा में पड़ने के कारण उसका स्वभाव राक्षसी हो गया। उसने अपनी इन्द्रियों को वश में करने की कभी स्वप्न में भी चेष्टा नहीं की किन्तु वह स्वयं इन्द्रियों के वश में हो गया। जहाँ कहीं वह किसी रूपवती कन्या या नारी का समाचार पाता वहीं तुरन्त जाता और बलात् छीन कर ले आता था। वह कहाँ कहाँ से कब कब किस किस की कन्यायें लाया—यदि इस

विषय का पूरा पूरा वर्णन किया जाय तो पुस्तक के बढ़ जाने का भय है और दूसरी बात यह कि हम उस दुष्ट रावण की घृणित कामचेष्टाओं का वर्णन करके अपने सदाशय पाठक-पाठिकाओं के अन्तःकरणरूपी विमल पट पर पापपङ्क के छींटे नहीं छिड़कना चाहते। हम यहाँ वाल्मीकिरामायण के आधार पर केवल इतना कह सकते हैं कि उस दुष्ट पापी के घर ऐसी स्त्रियाँ दो चार नहीं, दस-बीस नहीं, किन्तु सैकड़ों थीं।

दुराचारी रावण दुष्टा शूर्पणखा के मुख से सीतादेवी के अलौकिक रूप-लावण्य की प्रशंसा सुन कर उनकी प्राप्ति के लिए चञ्चल हो उठा। उसने अपनी बहन को समझाया और कहा कि मैं किसी न किसी उपाय से सीता को अवश्य लाऊँगा। तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। सीता के बिना तुम्हारा शत्रु स्वयं मर जायगा। इतना कह कर रावण उठा और रथ में बैठ कर मारीच के आश्रम में पहुँचा। मारीच बड़ा मायावी राक्षस था। रावण ने अपना अभिप्राय सुना कर मारीच से सहायता माँगी। मारीच रामचन्द्रजी का नाम सुनते ही काँप उठा। वह उनके बाहुबल को अच्छी तरह जानता था। विश्वामित्र के आश्रम का दृश्य मारीच की आँखों के सामने आ गया। विश्वामित्र मुनि के यज्ञ की रक्षा करते समय रामचन्द्रजी

हितेच्छु मारीच का हितकर परामर्श भी रावण को अच्छा न लगा। रावण ने क्रोध में भर कर मारीच को बहुत कुछ डाटा। यहाँ तक कि वह मारीच को मारने तक का भय दिखलाने लगा। जब मारीच ने देखा कि यह दुष्ट मुझे मारे बिना न मानेगा तब उसने रामचन्द्रजी के ही बाण से मरना अच्छा समझा। वह रावण की सहायता करने के लिए तैयार हो गया। रावण ने उसको समझा दिया और कह दिया कि तुम सोने का सुन्दर हिरन बन कर रामचन्द्र की कुटी के सामने लंबी लंबी घास में चरते फिरना। तुमको देख कर सीता का मन अवश्य ललचावेगा। तुमको पकड़वाने के लिए सीता रामचन्द्र से अवश्य प्रार्थना करेगी। सीता का मन देख कर उसके स्वामी हिरन को पकड़ने का उद्योग अवश्य करेंगे। जब हिरन के पीछे पीछे वे दोनों भाई बहुत दूर वन में निकल जायँगे तब मैं साधु-संन्यासी का भेष धारण करके अकेली सीता को हर लाऊँगा।

मारीच ने, अगत्या, रावण के कथनानुसार काम करना स्वीकार कर लिया। जिस समय, मारीच ने रावण को सहायता देने का अभिवचन दिया उसी समय से मानो मन्दभागिनी सीतादेवी के दिन उलटे पड़ गये।

रावण और मारीच दोनों पञ्चवटी आश्रम को चल दिये। रामचन्द्रजी की कुटी के पास पहुँच कर मारीच बनावटी सोने का सुन्दर हिरन बन कर लंबी लंबी घास में हिरनों में मिल कर चरने लगा। कुटी में बैठी हुई सीतादेवी की दृष्टि सामने चरते हुए उस अद्भुत हिरन पर जा पड़ी। वह कभी कभी कदली-वन में घुस जाता था, कभी कभी लंबी लंबी घास में छिप जाता था और कभी कभी कुटी के पास ही आकर चरने लगता था। उस हिरन का उछलना, कूदना और सुन्दरता देख कर सीताजी का मन मोहित हो गया। उन्होंने प्रसन्न होकर

रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को वह हिरन दिखला कर स्वामी से कहा—"आर्यपुत्र, देखिए, यह मृग कैसा मनोहर है ?" रामचन्द्रजी ने भी उसको देखा। देखने में उनको भी बहुत सुन्दर मालूम दिया। परन्तु लक्ष्मणजी ने उस मृग को बड़ी तीक्ष्ण और सूक्ष्म दृष्टि से देखा। उन्होंने समझ लिया कि यह मृग वास्तविक मृग नहीं किन्तु कृत्रिम है, बनावटी है। उन्होंने वह बात रामचन्द्रजी से भी कह दी। परन्तु लक्ष्मणजी की सम्मति सीताजी को पसन्द न आई। उन्होंने उनके कथन का खण्डन करके रामचन्द्रजी से कहा—"स्वामिन्, यह सुन्दर मृग मुझको बहुत अच्छा मालूम होता है। यह बड़ा मनोहर है। इसको देख कर मेरा मन बहुत प्रफुल्लित होता है। आप इसे पकड़ लाइए। मैं इसके साथ क्रीड़ा किया करूँगी। मेरे लिए यह एक आनन्द का खिलौना होगा। इस आश्रम में जितने हिरन हैं उन सबमें यह अनोखा है। ऐसा सुन्दर, ऐसा अलौकिक रूपसम्पन्न और ऐसा मनोहर मृग मैंने आज तक कहीं नहीं देखा। इस हिरन के सुनहले रङ्ग के चमड़े पर रङ्ग बिरंगी बूँदें बहुत ही भली मालूम होती हैं। अहा! इसका कैसा रूप है! कैसी शोभा है! इस मृग ने तो मेरा मन हर लिया। यदि आप इसे जीवित पकड़ लावें तो बड़े आश्चर्य की बात होगी। वनवास की अवधि समाप्त करके जब हम सब अयोध्या चलेंगे और आपको राज-गद्दी मिल जाने पर जब हम सब महलों में निवास करेंगे तब यह हिरन हमारे महलों की शोभा चौगुनी बढ़ावेगा। वहाँ सब लोग इसको देख कर चकित और मोहित हो जायँगे। और यदि, आप इसे जीवित न पकड़ सकें तो मार कर ही ले आइए। इसका चर्म बहुत सुन्दर होगा। मैं उस चर्म को यहाँ कुश-पर्णों के ऊपर बिछा कर उस पर बैठा करूँगी। यद्यपि स्त्री का यह धर्म नहीं है कि वह स्वार्थ के वश में हो कर स्वामी को किसी काम के करने के लिए इतना कष्ट दे, तथापि मैं

लाचार हूँ। जब से मैंने यह मृग देखा है तभी से मेरा मन इसके पाने के लिए उत्सुक और चञ्चल हो रहा है। इसलिए आप कृपा करके इस हिरन को लाकर मेरी उत्सुकता को शीघ्र मिटाइए।"

(वा० रा० काण्ड ३, सर्ग ४३)

पतिव्रता स्त्री स्वार्थसाधन के लिए, केवल अपने सुख के लिए, पति को किसी ऐसे काम के करने में प्रवृत्त नहीं करती कि जिसमें उसको कुछ कष्ट होने की सम्भावना हो। इस बात को सीतादेवी भी अच्छी तरह से जानती थीं। परन्तु आश्चर्य और खेद की बात है कि जान बूझ कर भी सीतादेवी ने उस धर्म का पालन नहीं किया। हमारे इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि स्त्री को कभी किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए पति से प्रार्थना ही न करनी चाहिए। हमारे कथन का सारांश यही है कि किसी वस्तु के लिए, किसी काम के लिए, स्त्री पति से प्रार्थना करे तो उस समय उसको इस बात का अवश्य विचार कर लेना चाहिए कि इस वस्तु के लाने में, इस काम के करने में, पतिदेव को अधिक कष्ट तो नहीं होगा। वह इस काम को कर भी सकेगा या नहीं। बस। हाँ, निःसन्देह हम यह मानते हैं कि जिस काम के लिए सीतादेवी ने रामचन्द्रजी से प्रार्थना की थी उसके विषय में उनको यह पूरा विश्वास था कि उनके लिए यह काम दुष्कर नहीं है। कारण यह कि सीताजी अपने स्वामी के सामर्थ्य को अच्छी तरह जानती थीं। इसी कारण उन्होंने उस हिरन को या उसको मार कर उसके चर्म को लाने का रामचन्द्रजी से आग्रह किया था। ऐसी दशा में हम सीताजी को कुछ भी दोष नहीं दे सकते। किन्तु इस घटना से सीताजी की जो दुरवस्था हुई, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को एवं उनके मित्रों को जो जो क्लेश उठाने पड़े उनका स्मरण करके हम इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि जिस बात को सीताजी जानती थीं और जिस स्त्री-कर्त्तव्य

का उन्होंने अपने मुख से वर्णन भी किया था, यदि वे उसका पालन करतीं, तो हम निश्चयपूर्वक कहते हैं कि उनको लंका में रह कर वे दुर्दिन कदापि देखने में न आते।

यहां पर एक बात यह भी विचारने के योग्य है कि सीताजी ने निरपराधी मृग के मारने की बात क्यों अपने मुँह से निकाली? सीताजी की ओर से मृग के मारने का प्रस्ताव एक बड़ा ही आश्चर्य-जनक और कौतूहल-पूर्ण है। हमारी सम्मति में ऐसा प्रस्ताव सीताजी के योग्य न था।

अस्तु, प्रियतमा जानकी की प्रार्थना सुन कर रामचन्द्रजी को बहुत आनन्द हुआ। वे धनुष-बाण हाथ में लेकर जब चलने को तैयार हुए तब लक्ष्मणजी से बोले कि "भाई, यदि यह सच-मुच मृग है तो मैं इसको जीता पकड़ लाऊँगा और यदि न भी हाथ आया तो मार कर ही ले आऊँगा। और यदि तुम्हारे कथनानुसार यह मृग नहीं, किसी मायावी राक्षस की माया है तो भी इसका मारना उचित ही है। इस लिए मैं जाता हूँ और जल्द आकर मैथिली की प्रार्थना पूरी करूँगा।" उन्होंने चलते समय लक्ष्मणजी से यह भी कहा कि "देखो, आज कल राक्षस हमसे बहुत द्वेष करने लगे हैं। इसलिए तुम सदा सावधान रहना! जानकी को क्षण भर के लिए भी अकेली मत छोड़ना!"

रामचन्द्रजी के चले जाने पर लक्ष्मणजी सीताजी की रक्षा के लिए कुटी में बैठ गये। यदि रामचन्द्रजी उस हिरन को मारना चाहते तो कुटी के पास ही खड़े खड़े बाण के द्वारा मार सकते थे; किन्तु वे सीताजी की प्रसन्नता के लिए उसको जीता ही पकड़ना चाहते थे। जिस समय रामचन्द्रजी हिरन के समीप पहुँचे उस समय उनके हाथ में धनुष-बाण देखते ही वह भाग गया। कभी वह रामचन्द्रजी के समीप आकर उनका मन ललचाता और कभी बहुत दूर जाकर कहीं

छिप जाता था। इसी तरह रामचन्द्रजी उसके पीछे पीछे बहुत दूर तक चले गये। बहुत दूर चले जाने पर रामचन्द्रजी के मन में भी सन्देह उत्पन्न हो गया। वे भी सोचने लगे कि यह साधारण मृग नहीं, अवश्य किसी दुष्ट राक्षस की माया है। यही सोच कर रामचन्द्रजी ने तरकस में से एक तीक्ष्ण बाण निकाल कर धनुष पर रक्खा। फिर उस हिरन का लक्ष्य करके उन्होंने उस बाण को छोड़ दिया। जिस समय रामचन्द्रजी के धनुष से छूट कर वह बाण उस हिरन के शरीर में लगा उस समय उसके लगते ही न जाने वह हिरन कहाँ लोप होगया और एक राक्षस गिरता दिखाई दिया। उस राक्षस का नाम मारीच था। उसने गिरते हुए बड़े आर्तस्वर से कहा—"हा लक्ष्मण! हा सीते!" इतना कहते ही वह मर गया। उसे देखते ही रामचन्द्रजी खड़े के खड़े ही रह गये। उनको बड़ा आश्चर्य्य हुआ। विशेष कर उसके मुँह से "हा लक्ष्मण! हा सीते!" का शब्द सुन कर रामचन्द्रजी को बड़ी चिन्ता हुई। उनके मन में सन्देह उठने लगा कि इसके शब्द को सुन कर न जाने जानकी और लक्ष्मण की क्या दशा होगी।

सीताजी और लक्ष्मणजी कुटी में बैठे हुए रामचन्द्रजी के आने की बाट देख रहे थे। जब उनके आने में बहुत देर हुई तब उनके मन में चिन्ता उत्पन्न होने लगी। वे चिन्ता में बैठे ही थे कि इतने मे मारीच के मुँह से निकला हुआ आर्तनाद उनके कर्णगोचर हुआ। उसको सुनते ही सीतादेवी का हृदय काँप उठा। वे व्याकुल होगईं। वे मन में सोचने लगीं कि "हाय! आर्यपुत्र को किसी राक्षस ने दबा लिया है। हाय! उनको कितना कष्ट हो रहा होगा! हाय वे किसी आपत्ति में फँसे हुए भाई लक्ष्मण को और मुझ मन्दभागिनी सीता को पुकार रहे हैं।" इतना सोचते ही सोचते उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह निकली। उन्होंने व्याकुल होकर लक्ष्मणजी से कहा, "लक्ष्मण, देखो

जल्द उठो। दौड़ कर जाओ। जाकर अपने भाई की सहायता करो। तुम्हारे भाई इस समय किसी राक्षस के पंजे में फँस गये मालूम होते हैं। वे इस समय दुःखी होकर तुम्हें पुकार रहे हैं। जल्दी जाओ। देर न करो।"

अच्छा यह तो हुई सीताजी की घबराहट की बात। अब तनिक लक्ष्मणजी की ओर तो दृष्टिपात कीजिए। देखिए तो वे भी व्याकुल हो रहे हैं या नहीं। नहीं, उनका मुखारविन्द प्रफुल्लित है। उनके मुख की आकृति में लेशमात्र भी अन्तर नहीं आया। उनके नेत्र प्रसन्न हैं और होठों पर वही मन्द मुस्कान है। उस मारीच के बनावटी आर्तनाद को सुन कर उनके हृदय में तनिक भी चिन्ता उत्पन्न नहीं हुई। वे सीताजी की व्याकुलता को देख कर बड़ी धीरता से बोले—"आप चिन्ता न कीजिए। रामचन्द्रजी को कभी किसी का भय नहीं हो सकता। वे अभय हैं। वे कभी दीनतायुक्त शब्द मुख से नहीं निकाल सकते। बेचारे राक्षसों की क्या गिनती, उनको संसार में कोई भी पराजित नहीं कर सकता। मुझे निश्चय है कि यह वाणी रामचन्द्रजी की नहीं, किसी कपटी राक्षस की है। आप धैर्य धारण कीजिए। वे अभी कुशल-पूर्वक आते होंगे।"

लक्ष्मणजी के बार बार समझाने पर भी सीतादेवी की सन्तुष्टि न हुई; उनकी चिन्ता न मिटी। वे लक्ष्मणजी के कथन को सुन कर और भी अधिक व्याकुल होने लगीं।

हाय! आज सहस्रों, लक्षों वर्षों का समय व्यतीत हो जाने पर भी सीतादेवी के कथन का स्मरण आने से हमारा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। *सीताजी स्त्री तो थीं ही। वे स्त्रीजनोचित दुर्बलता और* अविचारशीलता के वशीभूत होकर, स्वामी की काल्पनिक आपत्ति की सम्भावना से ही, धर्मिष्ठ देवर, लक्ष्मणजी के गुणों को एक बार ही

भूल गईं। वे लक्ष्मणजी को भ्रातृप्रेम-शून्य समझ कर नाना प्रकार के निन्दित वचनों से उनका अपमान करने लगीं; उनको ताने मारने लगीं। सीताजी के वार वार कटुशब्दों का प्रयोग करने पर भी लक्ष्मणजी पूर्ववत् शान्त और धीर बने रहे। उन्होंने उलट कर उनको उनकी एक भी बात का उत्तर नहीं दिया। लक्ष्मणजी की ऐसी धीरता, शान्ति और निश्चिन्तता देख कर सीताजी क्रुद्ध होकर बोलीं—"अरे नराधम, अरे कुलाङ्गार, तू बड़ा कुकर्मी है। तू बड़ा पापी है। मालूम होता है तुझे अपने बड़े भाई के दुःख मे ही सुख मिलता है। ऐसा न होता तो क्या इस समय तू ऐसा निश्चिन्त बैठा रहता। तेरे मन में तनिक भी भ्रातृप्रेम होता तो क्या तू ऐसी बातें बनाता! तू महा-कपटी और क्रूर है। अरे दुष्ट, इस समय तेरा भाव मालूम हुआ। अब तेरा छल प्रकट होगया। मालूम होता है, तू भरत का भेजा हुआ है। तू उससे मिल रहा है। परन्तु तू स्मरण रखना, तेरा मनोरथ कभी पूर्ण न होगा। तेरी पाप-वासना कभी फलवती न होगी। मैं अभी तेरे देखते ही देखते अपने प्राण त्याग दूँगी। मैं निश्चय कहती हूँ कि राम-चन्द्रजी के बिना मैं पल भर भी जीवित नहीं रह सकती।"

(वा० रा० काण्ड ३, सर्ग ४५)

हा सरस्वती! तू ने सीतादेवी की जिह्वा मे स्थित होकर उससे ये कैसे घृणित, अप्रशस्त और नीच वचन कहलवा दिये। ऐसे निन्दित वचनों के उच्चारण करते समय सीतादेवी की जिह्वा टुकड़े टुकड़े होकर क्यों नहीं गिर पड़ी? स्वर्गीय सुखभोग करती करती सीतादेवी एक बार ही नरक में क्यों गिर पड़ी? देवतुल्य देवर लक्ष्मणजी की साधुता मे सीताजी का सन्देह! क्या यह आश्चर्य की बात नहीं? जो सीतादेवी को सदा सुमित्रा के समान पूजनीय समझता था और स्वयं सीतादेवी जिसके गुणों की एक बार नहीं, कई बार प्रशंसा कर

चुकी हैं; जिसने एकमात्र रामचन्द्रजी की सेवा के लिए सब प्रकार का सुख छोड़ दिया; जिसने केवल इस विचार से, कि रामचन्द्रजी को किसी प्रकार का कष्ट न हो, घर की सुख-सम्पत्ति को तिलाञ्जलि देकर चीर-वल्कल धारण करके वन को प्रस्थान किया; जिसने वन में प्रवेश करके रामचन्द्रजी और सीताजी की सेवा और रक्षा करने में खाना-पीना और सोना सब भुला दिया, जिसने अपने आचरण से संसार में साधुता का आदर्श दिखा दिया; जो आत्मत्याग और अलौकिक भ्रातृ-प्रेम के लिए सारे संसार में प्रसिद्ध हो गया, जिसने उस दिन तक क्या, आमरण, कभी सीतादेवी के मुख की ओर आँख उठा कर नहीं देखा, उसी देवतुल्य देवर के प्रति सीताजी के द्वारा ऐसे दुर्वाक्यों का प्रयोग! यह बड़े ही अनर्थ की बात है। सुशील और सदाचारी लक्ष्मणजी के विषय में सीताजी की ऐसी दुर्भावना देख कर कोई किसी प्रकार भी सीताजी को निर्दोष सिद्ध नहीं कर सकता। हमारे तो चित्त मे यही दृढ़ धारणा है कि सीताजी ने लक्ष्मणजी के विषय में जो सन्देह प्रकट किया है वह सर्वथा मिथ्या है। उसमे लेशमात्र की तथ्यांश नहीं। हमको कभी स्वप्न मे भी आशा न थी कि सीताजी लक्ष्मणजी के लिए ऐसे कटु और घृणित शब्दों का प्रयोग करेंगी और उनके चरित्र में ऐसी शंका करने लगेंगी। सीताजी के पवित्र और सरल स्वभाव को देख कर हमको ऐसी घटना हो जाने की कभी सम्भावना न थी। यह घटना उनके स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध हुई, तो फिर उनके मुँह से ऐसे अभद्र शब्द क्यों निकल पड़े। सीतादेवी सहसा अपने को क्यों भूल गईं? उन्होंने सहसा अपने स्वभाव के विरुद्ध क्यों आचरण किया? हमारी परम स्नेहवती, प्रियवादिनी सतीशिरोमणि जानकी साधारण स्त्रियों के समान क्यों हो गईं? अवश्य इन सब बातों का कुछ गूढ़ मर्म है। अच्छा अब इस विषय में सूक्ष्म विचार करना चाहिए।

लक्ष्मणजी एक उत्तमकोटि के वीरपुरुष थे। उनमें साहस और तेज की मात्रा विलक्षण थी। वे राक्षसों के साथ विवाद होने की सम्भावना को भी पहले से ही जानते थे। जिस अपूर्व मृग को देख कर सीताजी इतनी मोहित हो गईं थीं और जिसके पकड़ने के लिए स्वयं रामचन्द्रजी दौड़े गये थे उसको देखते ही महाबुद्धिमान् और दूरदर्शी लक्ष्मणजी ने सन्देह प्रकट किया था। उन्होंने उसे देखते ही कह दिया था कि यह मृग वास्तविक मृग नहीं, मायामृग है :

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव।

जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः।

(वा० रा० अरण्यकाण्ड, सर्ग ४३ श्लोक ८)

"हे राघव, जगत् मे ऐसा विचित्र मृग कहीं नहीं होता। निस्सन्देह यह माया है; मृग नहीं।"

जिस समय रामचन्द्रजी की बोली में उस मायावी राक्षस ने जंगल मे "हा सीते! हा लक्ष्मण!" पुकारा था, उसका भी भेद लक्ष्मणजी ने उसी समय समझ लिया था और सीताजी को समझा भी दिया था। परन्तु सीतादेवी पुष्प के समान कोमलहृदया रमणी थीं। वे सर्वथा पतिपरायणा थीं। पति के तनिक से क्लेश को भी वे सहन नहीं कर सकती थीं। पति को तनिक भी क्लेश पहुँचने की सम्भावना होते ही उनका हृदय व्याकुल हो जाता था। वे बहुत ही भोले स्वभाव की थीं। इसीलिए लक्ष्मणजी के समझाने पर भी उनके मन मे उस मृग के विषय में कुछ भी शङ्का उत्पन्न नहीं हुई। इसी लिए उन्होने लक्ष्मणजी की बातों का विश्वास नहीं किया। उस वाणी को सुन कर सीतादेवी का हृदय कांप उठा। अबला सीतादेवी ने सोचा था कि वीरवर लक्ष्मण बहुत: जल्द धनुष-बाण हाथ में लेकर भाई की सहायतार्थ चल दें; परन्तु लक्ष्मणजी ने वैसा नहीं किया। वे सुन कर

ज्यों के त्यों बैठे रहे। वे सीतादेवी की तरह अधीर और व्याकुल नहीं हुए। लक्ष्मणजी को स्थिर और शान्तभाव से निश्चिन्त बैठे देख कर सीताजी सहसा उन्मादिनी स्त्री की तरह भीषणमूर्ति धारण कर बैठीं। सीतादेवी पति के लिए तनिक से दुःख की सम्भावना मात्र करके क्षणमात्र में ही, पुत्रवत् लक्ष्मणजी को और अपने आपको भी भूल गईं। थोड़ी सी देर में सीताजी की दशा ऐसी बदल गई कि वे किंकर्तव्य-विमूढ़ा हो गईं। उनको कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी बोध न रहा। ऐसी दशा में किसी पतिप्राणा नारी का ही स्वभाव इस तरह बदल सकता है यह बात स्पष्टतया विदित हो गई।

जिस समय सीताजी ने ऐसे क्रूर और घृणित शब्द-बाणों की वर्षा की थी उस समय साधुशील लक्ष्मणजी के कोमल हृदय में कैसा भारी आघात हुआ होगा, कितनी प्राणान्तक वेदना हुई होगी, उसे सहृदय पाठक-पाठिकागण ही अनुभव कर सकते हैं। यह माना कि लक्ष्मणजी ने सीताजी के कटुवाक्यों का उत्तर वैसे ही कटुवाक्यों में नहीं दिया, किन्तु उनके हृदय में उन शब्द-बाणों से पीड़ा कम नहीं हुई थी। वे धार्मिक, साधु और परम भ्रातृभक्त थे। वे सीतादेवी को माता के समान समझते थे। लक्ष्मणजी ऐसे संयमी थे कि वे सीताजी की बातों को सुन कर सहन कर गये। क्या ऐसे साधुशील देवर का हृदय दुखाना पाप नहीं है? क्या ऐसे सच्चरित्र महापुरुष के निर्मल चरित्र पर मिथ्या कलंक लगाना घोर अन्याय नहीं है? हमारी तुच्छबुद्धि में तो यह भारी पाप है, घोर अन्याय है। हमारी समझ में तो निर्दोष लक्ष्मणजी में दोष लगाना और उनको व्यर्थ ही घृणित शब्द-बाणों से व्यथित करना अच्छा नहीं हुआ।

अस्तु, सीतादेवी के दारुण वचनों को सुन कर लक्ष्मणजी के हृदय में दुःख, क्रोध, अभिमान सब एक साथ उदय हो गये। परन्तु फिर भी

वे अपने दुःख, क्रोध और अभिमान को दबा कर हाथ जोड़ कर कहने लगे—"आर्य्ये! आप मेरी पूजनीया हैं। आप मेरी देवता हैं। आप की बात का उत्तर देना मेरा काम नहीं। मैं आपकी बातों का उत्तर नहीं दे सकता। अनुचित बात कह देना स्त्रियों का काम ही है। स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है। आपका इसमें कुछ अपराध नहीं। परन्तु आपके कठोर वचन मेरे हृदय मे अपार पीड़ा पहुँचा रहे हैं। ईश्वर साक्षी है, मैंने निष्कपट भाव से आपके कल्याण के लिए ही कहा था। इतने पर भी यदि आप मुझ पर शङ्का करती हैं तो आपको धिक्कार है। आपकी बुद्धि में इतना भारी अनर्थ समा जाना आपकी घोर आपत्ति का सूचक है। मैं बड़े भाई की आज्ञा का पालन करना चाहता था; पर आप नहीं करने देतीं। आपने स्त्रियों के स्वभावानुसार ही मेरे लिए ऐसी बातें कही हैं। अच्छा, अब ईश्वर आपका भला करे। मैं रामचन्द्रजी के पास जाता हूँ। मुझको इस समय बहुत बुरे बुरे शकुन दिखाई दे रहे हैं। ईश्वर और वन के जीव आपकी रक्षा करें। हे परमात्मन्, आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम दोनों भाई लौट कर सीताजी को इस कुटी में कुशलपूर्वक देखें।"

(वा० रा० काण्ड ३, सर्ग ४५)

लक्ष्मणजी की बातों को सुन कर सीताजी ने फिर कुछ उत्तर न दिया। वे फूट फूट कर रोने लगीं। जब लक्ष्मणजी ने देखा कि ये बड़ी हठीली हैं; ये अपना हठ कभी न छोड़ेंगी; ये हमारे कहने से कभी न समझेंगी तब क्रोध में भर वे रामचन्द्रजी के समीप चल दिये।

जिस समय कुटी में अकेली बैठी हुई सीताजी पति और देवर के आने की प्रतीक्षा कर रही थीं उसी समय एक संन्यासी कुटी के द्वार पर आकर खड़ा हो गया। वह गेरुआ वस्त्र पहन रहा था, बाएँ हाथ में दण्ड और सीधे में कमण्डलु ले रहा था। जिस समय वह

संन्यासी धीरे धीरे चल कर सीताजी के पास पहुँचा उस समय उनके अलौकिक सौन्दर्य को देख कर वह खड़ा का खड़ा ही रह गया। उसने देखा कि सीतादेवी के कमलसमान नेत्रों से आँसुओं की बूँदें टपक रही थीं। वे किसी गहरी चिन्ता में डूबी हुई थीं। यद्यपि उस समय वे शोक में व्याकुल हो रही थीं तथापि उनके मुख पर एक प्रकार की दिव्य ज्योति झलक रही थी। संन्यासी ने आते ही सीताजी के सौन्दर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की और कहा कि तुम यहाँ अकेली क्यों बैठी हो?

अहा! धर्मशिक्षा इसका नाम है! हमारे पाठक-पाठिकागण कदाचित् सोचते होंगे कि ऐसी चिन्तावस्था में सीताजी ने संन्यासी की ओर ध्यान न दिया होगा; परन्तु नहीं। सीताजी का अन्तःकरण धार्मिक शिक्षाओं से पवित्र हो रहा था। उनके हृदय में बड़ी दृढ़ता से धार्मिक शिक्षा कूट कूट कर भरी हुई थी। वे संन्यासी को देखते ही आँसू पोंछ कर खड़ी हो गईं। उन्होंने अपना परिचय देकर उनको प्रणाम किया और बैठने को आसन दिया। यही नहीं, उन्होंने संन्यासी को कुछ फल-मूल भी खाने को दिये। सारांश यह कि सीतादेवी ने अतिथि-सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की। उन्होंने संन्यासी से कहा कि आप थोड़ी देर बैठिए, विश्राम कीजिए, अभी मेरे स्वामी और देवर दोनों आते होंगे। परन्तु वह संन्यासी कोई सच्चा संन्यासी थोड़ा ही था जो सीतादेवी के वचन मान कर रामचन्द्रजी के आने तक वहाँ बैठा रहता। वह तो कपट-वेशधारी नाम मात्र का संन्यासी था। उसने बाहर इधर उधर दृष्टि दौड़ा कर देखा और फिर सीताजी से कहा—"जानकि, जिसके प्रताप से देव, असुर और सारे मनुष्य भयभीत रहते हैं, जिसके नाम को सुनते ही बड़े बड़े वीर पुरुष भय से थर थर काँपने लगते हैं, मैं वही राक्षसेश्वर रावण हूँ। तुम बड़ी सुन्दरी हो।

तुमको देख कर मेरा चित्त मोहित हो गया। मैं अनेक स्थानों से अनेक रूपवती रमणियों को हर कर लाया हूँ। मेरे रनिवास में एक से एक बढ़ कर सैकड़ों रानियाँ हैं; परन्तु तुम्हारे समान उनमें एक भी सुन्दरी नहीं। इसलिए अब तुम्हीं उन सब में प्रधान रानी बनो। हमारी राजधानी लंका है। लंकापुरी बड़ी सुन्दर है। वह एक पर्वत के ऊपर बसी हुई है। उसके चारों ओर समुद्र की खाई है। तुम लंका की पटरानी बनजाओ तो सैकड़ों, सहस्रों नारियाँ तुम्हारी सेवा किया करेंगी। लंका का सुख अनुभव करके तुम वनवास के क्लेश को भूल जाओगी। तुम मुझको ग्रहण करो। मैं सर्वदा तुम्हारा अनुगामी रहूँगा। मैं कभी तुम्हारे विपरीत कोई काम न करूँगा। तुम साधारण मनुष्य रामचन्द्र से मन हटा कर मेरा ध्यान करो। जो पुरुष स्त्रीजन के कथनमात्र से राज्य को छोड़ कर भयंकर वन में चला आया उस निर्बुद्धि और अल्पायु राम में तुम इतनी भक्ति और प्रीति क्यों करती हो?"

रावण के मुँह से ऐसे अधर्म-वाक्य सुन कर सीतादेवी आश्चर्य-सागर में डुबकी लगाने लगीं। वे क्रुद्ध होकर सिंहिनी की तरह गर्ज उठीं। देखते ही देखते उनकी मुखाकृति पर क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठा। क्रोध के बढ़ने से उनके अङ्ग काँपने लगे। कुछ देर तक तो वे मारे क्रोध के कुछ बोल न सकीं, परन्तु कुछ देर बाद वे रावण का तिरस्कार करती हुई उससे बोलीं—"रे पापी! तू क्या बकता है? जो हिमाचल के समान स्थिर हैं, जो सागर के समान गम्भीर हैं, वे रामचन्द्रजी जहाँ हैं, मैं वहीं जाऊँगी। जो सत्यप्रतिज्ञ, धर्मात्मा, कीर्तिवान् और शूर हैं मैं उन्हीं रामचन्द्रजी के समीप जाऊँगी। जिनके बाहुयुगल सुदीर्घ, वक्षःस्थल विशाल और मुख पूर्णचन्द्र के समान कमनीय है, मैं उन्हीं रामचन्द्रजी के समीप जाऊँगी। जिनका सिंह के तुल्य पराक्रम है,

सिंह के ही तुल्य चाल है, मैं उन्हीं पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के पास जाऊँगी। अरे नीच राक्षस, तू गीदड़ होकर सिंह का भाग ग्रहण करना चाहता है? जिस तरह कोई सूर्य की प्रभा को नहीं छू सकता उसी तरह तू भी मुझको नहीं छू सकता। अरे! तू रामचन्द्रजी की प्यारी पत्नी के लेने की इच्छा करके क्यों अपने काल को बुला रहा है? तू क्यों सांप और सिंह के मुँह से दांत उखाड़ना चाहता है? तू क्यो सुई की नोक से आंख खुजलाता है? तू क्यों शिला बांध कर समुद्र के पार जाना चाहता है? क्यों आग को कपड़े में बांधता है? क्यों कांटों पर चलना चाहता है? देख, सिंह और गीदड़ में जितना अन्तर है, समुद्र और क्षुद्र नदी में जितना अन्तर है, सुवर्ण और लोहे में जितना अन्तर है, गरुड और कौए में जितना अन्तर है, हंस और गीध में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर रामचन्द्रजी में और तुझमें है। अरे नीच, अभी थोड़ी देर ठहर तो सही। देख, अभी धनुर्धारी रामचन्द्रजी महावीर लक्ष्मण के साथ आकर तुझको कैसा दण्ड देते हैं। तू बड़ा पापी, दुराचारी और निर्दयी है। यदि तू असहाय जान कर मुझको ले जायगा तो मैं धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राण गवाँ दूँगी। तू चाहे जैसी चिकनी चुपड़ी बातें बना, मैं कदापि तेरे वश में न हूँगी। यदि तूने मेरे शरीर को हाथ लगाया तो स्मरण रखना, तू सवंश नष्ट हो जायगा। तू मुझको अकेली देख कर ऐसी बातें बना रहा है। परन्तु मेरे स्वामी और देवर के हाथ से तेरे प्राण नहीं बचेंगे।"

(वा० रा० काण्ड ३, सर्ग ४७)

जिस समय सीताजी क्रोध में भर कर रावण से इस तरह कह रही थीं, उस पर ऐसे वाक्य-बाणों की वर्षा कर रही थीं, उस समय उनका रूप बड़ा ही भयंकर हो गया था। सीताजी के भयंकर रूप का दर्शन करके महाबली रावण का भी कठोर हृदय कांप उठा। जब

पापी रावण ने सीताजी को इतना बिगड़ते देखा तब वह उनको बलात् हर ले जाने का प्रयत्न करने लगा। यही सोच कर उसने संन्यासी का वेश दूर करके अपना वास्तविक भयंकर राक्षसी रूप बना लिया। रावण के भयंकर रूप को देख कर कोमलकलेवरा सीतादेवी पीपल के पत्ते की तरह थर थर कांपने लगीं। उनके नेत्रों के आगे अन्धकार छा गया। रावण ने बाएँ हाथ से सीतादेवी के केश और सीधे से दोनों पांव पकड़ कर उनको बलपूर्वक उठा लिया और अलग खड़े हुए रथ में बैठा लिया। सीतादेवी ने अनेक बार गिड़गिड़ा कर कहा कि तू मुझको छोड़ दे, पर दुष्टात्मा रावण कब सुनने लगा। उसने भय दिखला कर उनको रथ पर डाल ही दिया। इस तरह अकस्मात् रावण के पंजे में फँस कर सीतादेवी रो रो कर रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को पुकारने लगीं। परन्तु उस निर्जन वन मे उनकी पुकार कौन सुनता ? सीतादेवी के आर्तनाद,को सुन कर वन के सारे वृक्ष, सारी लतायें, मृग, पक्षी सबके सब स्तब्ध हो गये। चारों ओर से हाहाकार की प्रतिध्वनि गूँजने लगी। मानो धरती कांपने लगी। रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी सीतादेवी को पापी रावण के वश में देख कर सारे जीवजन्तु व्याकुल हो गये। सीताजी रोती हुई कहने लगीं "हे ईश्वर, महात्मा रामचन्द्रजी की पतिव्रता पत्नी को दुष्ट रावण हरे लिये जाता है; धर्म को अधर्म दबाये लिये जाता है; पाप पुण्य को कुचले डालता है। हाय ! अब संसार में धर्म मारा गया, जगत् से सत्यधर्म उठ गया और दया का कहीं नाम नहीं दिखाई देता।" सीताजी ने रावण के पंजे से छुटने के लिए यथाशक्ति बहुत उद्योग किये, परन्तु उस दुष्ट ने उनको नहीं छोड़ा। वह विमान में बैठा कर उनको आकाश-मार्ग से ले उड़ा। मार्ग में सीताजी रोती हुई चली जाती थीं और विलाप करती जाती थीं कि "हाय ! यदि मैं महावीर लक्ष्मण को कठोर शब्द कह कर कुटी से न

निकालती तो यह पापी मुझको क्यों हर लाता !" जब सहस्त्रों बार चिल्लाने पर भी सीतादेवी को कोई सहायक न दिखाई दिया तब वे निराश होकर शोकसागर में निमग्न होगई । जब उनको कुछ चेत होता था तब वे इस प्रकार विलाप करती थीं—"हा ! भ्रातृभक्त लक्ष्मण, यह दुष्ट राक्षस मुझको लिये जाता है, तुम उसे नहीं देखते ! हा स्वामिन् ! हा प्राणपते, आपने धर्म के लिए सर्वस्व का त्याग कर दिया । एक मैं आपकी सेवा के लिए बची थी, परन्तु आज मैं भी इस दुष्ट रावण के हाथ में फँस गई । हाय ! आप नहीं जानते कि मुझे कौन लिये जा रहा है । हे वीर, आप तो दुष्टों को दण्ड देने वाले हैं, फिर इस दुष्ट रावण को इसका फल क्यों नहीं देते । हे राक्षसकुलाधम रावण, मालूम होता है मृत्यु के जाल में फँस कर ही तूने यह नीच कर्म किया है । रामचन्द्रजी की प्यारी भार्या को चुरा कर तू जीवित नहीं रह सकता । हाय ! आज कैकयी की इच्छा पूरी हुई । आज मैं मारी गई ! हे जन-स्थान, मैं तुमको नमस्कार करती हूँ, हे वन, मैं तुमको प्रणाम करती हूँ, मुझको रावण हरे लिये जाता है—तुम यह बात रामचन्द्रजी से जल्द कह देना । हे गोदावरि, मैं तुमको प्रणाम करती हूँ । तुम मेरा समाचार रामचन्द्रजी को सुना देना । हाय ! चाहे मुझको यम लेजायँ, चाहे कोई मुझे किसी लोक में क्यों न लेजाय, पर जब रामचन्द्रजी को मेरा समाचार मिल जायगा तब वे मुझे अवश्य ले आवेंगे । मुझे पूरा विश्वास है कि उनके सामने कोई भी नहीं ठहर सकता ।"

इसी तरह विलाप करती हुई सीतादेवी अपने आभूषणों को उतार उतार कर जहाँ तहाँ फेंकती जाती थीं । वे कभी रावण को समझाती थीं, कभी कटुवचन कह कर उसको धिक्कारती थीं, कभी डाटती थीं और कभी क्रोध में भर कर डराती भी थीं । परन्तु रावण उनकी एक भी नहीं सुनता था । एक जगह पर्वत के ऊपर कुछ

लोग बैठे थे। उनको देख कर और यह विचार कर कि कदाचित् यही रामचन्द्रजी को हमारा कुछ पता घता सकें, उन्होंने अपने एक वस्त्र में कुछ गहने लपेट कर उनके पास फेंक दिये। रावण अपने चलने की धुन में था। उसने वस्त्राभूषण का गिरना नहीं देखा। उन लोगों ने ऊपर को मुँह उठा कर देखा तो रोती हुई एक देवी-रूपिणी स्त्री दिखाई दी। परन्तु उस समय रावण का विमान दूर होने के कारण वे उसे पहचान न सके।

रावण बिजली की तरह लंका मे जा पहुँचा। उसने सीताजी को अपने महलों मे जा बैठाया। कहाँ तो सीतादेवी पति के साथ निर्जन वन मे भ्रमण करती हुई स्वर्गसुख का अनुभव करती थीं और कहाँ एकदम दुष्ट रावण के पंजे में फँस कर प्राणेश्वर रामचन्द्रजी और गुरुभक्त लक्ष्मणजी से सैकड़ों कोस दूर जा पड़ीं! क्या यह बात सीताजी के हृदय में कम दुःख पैदा करती होगी? हाय! सीताजी के लिए यह क्या हो गया? राममयजीविता सीतादेवी को विधाता ने उनके पति से इतनी दूर क्यों फेंक दिया? क्या अब सचमुच सीतादेवी अपने प्राणेश्वर के दर्शन न कर सकेंगी? क्या सीतादेवी अपने प्राणनाथ के बिना लंका में जीवित रह सकेंगी?

कुछ देर तक सीतादेवी रावण के महल मे निश्चेष्ट खड़ी रहीं। जब उन्होंने अपने को सर्वथा असहाय देखा तब वे रोने के अतिरिक्त और क्या कर सकती थीं। वे धाड़ें मार मार कर रोने और विलाप करने लगीं। रावण ने अपने वश में करने के लिए पहले सीतादेवी को बहुत समझाया, अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये, परन्तु जब वे नहीं मानीं तब उसने उनको राक्षसियों के पहरे में रख दिया। पापी रावण की आज्ञा से वे राक्षसियाँ भी उनको बहुत डराने-धमकाने लगीं। परन्तु जनकनन्दिनी रामप्रिया सीतादेवी पतिव्रता थीं। उन्होंने राक्ष-

सियों को और उनके राजा रावण को भी झिड़क दिया और जता दिया कि "मैं साधारण स्त्री नहीं हूँ! मैं ब्रह्मज्ञानी जनक की आत्मजा, सत्यवादी राजा दशरथ की पुत्रवधू और सत्यप्रतिज्ञ एवं महाबली रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी हूँ।"

इसी तरह सीताजी राक्षसियों की रक्षा में रहने लगीं। बीच बीच में रावण ने कई बार उनको समझाया, कई बार धमकाया, यहाँ तक कि तलवार से सिर उड़ाने तक का भय भी दिखलाया, परन्तु तो भी वे अपने धर्म पर दृढ़ बनी रहीं। रावण ने आत्मप्रशंसा और रामचन्द्रजी की निन्दा करके कई बार सीताजी का हृदय दुखाया, परन्तु तो भी सती सीताजी का पवित्र मन धर्म से विचलित न हुआ।

राक्षसेश्वर रावण के मुख से अपने स्वामी की निन्दा सुन कर सीताजी का हृदय क्रोधाग्नि से जल उठा। वे कुपित कालसर्पिणी के समान गर्ज कर रावण के ऊपर तिरस्कार और अपमान-सूचक शब्दों की वर्षा करने लगीं। वे रावण से तनिक भी न डर कर कहने लगीं—"रे पापी, तू चाहे मुझे बांध, या मार, पर मैं तेरा अपवित्र शरीर स्पर्श करके अपने धर्म को—प्राण से भी अधिक प्रिय धर्म को—अपवित्र और कलङ्कित नहीं करूँगी। मैं धर्मात्मा रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी हूँ। तू महापापी होकर मेरे शरीर को छूने के भी योग्य नहीं है। मैं तुझ से पापी का मुख भी देखना नहीं चाहती।"

> "तथाहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी दृढ़व्रता।
> त्वया स्प्रष्टुं न शक्याऽहं राक्षसाधम पापिना॥"
>
> (वा० रा०, काण्ड ३, सर्ग ५६)

अन्त में रावण ने भी क्रोध में भर कर कह दिया कि—

> "शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मामन्द्रादय भामिनि!

कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि !
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः ॥"

(वा० रा०, काण्ड ३, सर्ग ५६)

"हे जानकि, सुन, मैं १२ महीने की अवधि तुझको देता हूँ। यदि एक वर्ष तक तू मेरा कहना न मानेगी तो मेरे रसोइये तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े करके मेरे लिए प्रातःकालीन भोजन में पका डालेंगे।" यह कह कर रावण ने सीताजी को अशोकवाटिका में भिजवा दिया और उनकी रक्षा में कई राक्षसियाँ नियुक्त कर दीं। बेचारी मन्दभागिनी सीता देवी पति के वियोग में अपने दुःख के दुर्दिन उस अशोकवाटिका में रह कर काटने लगीं।

"न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता।
पतिं स्मरन्ती दयितं च देवरं विचेतनाऽभूद् भयशोकपीडिता ॥"

(वा० रा०, काण्ड ३, सर्ग ५६)

अर्थात् अशोकवाटिका में रह कर भी सीताजी का शोक कम न हुआ। क्योंकि दुर्मुखी राक्षसियाँ उनको बात बात में भय दिखलाया करती थीं। इसलिए वे अपने प्रिय पति और देवर को याद करके शोक और भय से अचेत हो जाया करती थीं।

चौथा काण्ड

बालि-वध

हम पिछले काण्ड में लिख चुके हैं कि मारीच के मुँह से "हा सीते! हा लक्ष्मण!" की वाणी सुन कर रामचन्द्रजी को बड़ी चिन्ता हुई। उनका हृदय काँपने लगा। उनके मन में निश्चय हो गया कि अवश्य कोई भारी आपत्ति आनेवाली है। वे घबरा कर चिन्ता करने लगे कि कहीं लक्ष्मण जानकी को कुटी में अकेली छोड़ कर तो नहीं चले गये? क्या मेरी तरह लक्ष्मण को भी किसी राक्षस ने अपने मायाजाल में फाँस लिया? उस समय उनके हृदय में सीताजी के लिए नाना प्रकार की चिन्तायें उठने लगीं। इसी तरह नाना प्रकार की चिन्ता करते करते वे कुटी की ओर जल्द चलने लगे। उस समय वे इतने अधिक विकल हो रहे थे कि उनके पैर आगे को नहीं पड़ते थे। उनका सारा शरीर काँपने लगा। मार्ग में अनेक कुशकुनों को देख कर उनका रहा सहा धैर्य भी जाता रहा। वे चिन्ता करते हुए जा ही रहे थे कि इतने में उनको सामने लक्ष्मणजी आते दिखाई दिये। लक्ष्मणजी को देखते ही रामचन्द्रजी का मस्तक चक्कर खाने लगा, तालु सूख गया और कण्ठ रुक गया। उन्होंने जैसे तैसे सीताजी का कुशल-समाचार पूछा। उन्होंने दुःखाकुल होकर लक्ष्मणजी से कहा—"वत्स, जब मैं तुमको विश्वासपात्र समझ कर जानकी की रक्षा के लिए वन में छोड़ आया था तब तुम मेरी आज्ञा के विरुद्ध उनको कुटी में अकेली छोड़ कर यहाँ क्यों चले आये? न मालूम अब क्या होनेवाला है! मालूम होता है जानकी को कोई राक्षस उठा ले गया और एकान्त में जाकर खा गया होगा। लक्ष्मण, यदि प्रिय-

तमा जानकी जीती जागती होंगी तो मैं आश्रम को जाऊँगा अन्यथा वहाँ जाने से क्या प्रयोजन! यदि जानकी को राक्षसों ने मार डाला होगा तो फिर मैं ही जीकर क्या करूँगा? कुटी में पहुँचते ही मुझको देख कर, यदि, जानकी कोमलवाणी से मेरे साथ प्रेमालाप न करेंगी तो फिर मेरे जीने से प्रयोजन ही क्या?"

रामचन्द्रजी को अत्यन्त शोकाकुल देख कर लक्ष्मणजी ने कहा—"आर्य, मैं अपनी इच्छा से सीताजी को अकेली छोड़ कर नहीं आया हूँ।" इतना कह कर लक्ष्मणजी ने अपने आने का पूरा पूरा वृत्तान्त रामचन्द्रजी को सुना दिया। सीताजी ने स्वयं क्रुद्ध होकर और दुर्वाक्य कह कर लक्ष्मण को यहाँ भेजा है—यह सुन कर रामचन्द्रजी का चित्त और भी अधिक व्याकुल हो गया। उन्होंने कहा—"भाई, मैथिली के कहने में आकर तुमने मेरी आज्ञा न मानी—यह काम अच्छा नहीं किया!"

इसी तरह बातचीत करते करते दोनों भाई कुटी के पास जा पहुँचे। दूर से ही शोभाहीन कुटी को देख कर रामचन्द्रजी का शोक बढ़ने लगा। जब वे जल्द जल्द चल कर कुटी के भीतर गये तब वहाँ सीताजी को न देख कर उनको जो दुःख हुआ वह वर्णन नहीं किया जा सकता। उस समय दोनों भाइयों की हार्दिक वेदना अवर्णनीय थी। कुटी में सीताजी को न देख कर रामचन्द्रजी मूर्च्छा खाकर धरती पर गिर पड़े। मूर्च्छा दूर होने पर जब कुछ चेत हुआ तब दोनों भाई सीताजी को कुटी के आसपास ढूँढने लगे। परन्तु जब उनका वहाँ कहीं पता न लगा तब महादुःखी होकर रामचन्द्रजी ऊँचे स्वर से सीताजी को पुकारने लगे। परन्तु उनको सीताजी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। हाय! जिन प्रियतमा जानकी को रामचन्द्रजी ऐसी विकलता से पुकार रहे हैं उनका वहाँ कहीं नाम तक नहीं।

सरलस्वभाव रामचन्द्रजी को यह नहीं मालूम कि उनकी प्राणप्रिया अब इस आश्रम में नहीं है। उन बेचारों को क्या मालूम कि समुद्र के पार दुष्ट रावण के अशोकवन में राक्षसियों से घिरी हुई सीताजी अपने प्राणेश्वर का ध्यान कर रही हैं। रामचन्द्रजी सीताजी के वियोग-दुःख को और अधिक सहन न कर सके। वे "हा! प्राणप्रिये सीते! क्व गतासि!" कह कर फिर अचेत हो गये। उस समय धीरव्रत लक्ष्मणजी ने उनको समझाया और कहा कि आप इतने अधीर न हों। जानकीजी यहीं-कहीं आश्रम में पुष्प लेने के लिए गई होंगी। उनको पर्वत-भ्रमण का बड़ा व्यसन है। सम्भव है, वहीं चली गई हों, या समीप ही किसी सरोवर में स्नान करने चली गई हों। या योंही हास्य के लिए वे यहीं कहीं छिप कर बैठी हों। आप धैर्य धारण कीजिए, हम आप दोनों उनको ढूँढ़ लेंगे। चिन्ता न कीजिए।"

दोनों भाई सीताजी की खोज में इधर उधर फिरने लगे। रामचन्द्रजी के सामने जो वृक्ष आता, जो लता आती, जो पशु-पक्षी आते वे उन्हीं से सीताजी का पता पूछने लगे—"हे कदम्ब, हमारी प्राणप्रिया तुझसे बहुत स्नेह रखती थी, यदि तूने उसको देखा हो तो तूही उसका पता बता। हे करवीर वृक्ष, तू भी कृशाङ्गी जानकी का बहुत ही प्रेमपात्र है, तूही उसका पता बता। हे अशोक, शोकनाशक, मैं शोकाग्नि से परितप्त हो रहा हूँ। इस समय तूही जानकी को दिखा कर मेरा शोक दूर कर। हे तिलक, तू वृक्षों में प्रधान है। तेरे चारों ओर अनेक भौंरे गूँजते फिरते हैं। तू भी जानकी का विशेषरूप से आदरपात्र है। तूही उसका कुछ पता लगा। हे कर्णिकार, तेरे पुष्पों को भी जानकी बहुत सूँघा करती थी। यदि तूने उसको देखा हो तो तूही उसका पता बता। हे मृग, तू मृगनयनी जानकी को अवश्य जानता होगा। उसका पता तुझको मालूम हो तो मुझे बता दे।"

इसी प्रकार रामचन्द्रजी ने सभी से सीताजी का पता पूछा। पर किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। इतने में ही रामचन्द्रजी सीताजी के वियोग में भ्रान्त से हो गये। वे स्वप्न सा देखने लगे। उनको ऐसा मालूम हुआ कि मानो सीताजी उनके सामने से निकल गईं और हँसी करने के लिए किसी वृक्ष की ओट में छिप गईं। उस समय वे उसी कल्पित सीता को सम्बोधन करके कहने लगे—"नीरजनयने, तुम क्यों दौड़ती फिरती हो! क्या इसी लिए कि हम तुमको देख लें? तुम वृक्ष की ओट में होकर हमारी बात का उत्तर क्यों नहीं देतीं? एक बार तो मुँह से बोलो! ऐसा निर्दय स्वभाव क्यों बना लिया? तुमने पहले तो कभी ऐसी हँसी नहीं की थी? अब क्यों देर लगा रही हो? अब क्यों मेरी बार बार परीक्षा लेती हो? मैं तुमको पहचानता हूँ। मैं तुम्हारे पीले दुपट्टे को पहचानता हूँ। मैं देख रहा हूँ कि तुम बहुत जल्द जल्द भागी जा रही हो। यदि तुम्हारे हृदय में कुछ भी प्रेम है तो ठहर जाओ। भागो मत। जानकि, मैं तुम्हारे विरहाग्नि से भस्म हुआ जाता हूँ। अब तुम मुझ पर दया करो। मेरे पास आओ। देखो, जिन हिरन के बच्चों के साथ तुम नित्य खेला करती थीं वे कैसे उदास हो रहे हैं।"

कुछ देर बाद जब रामचन्द्रजी को कुछ चेत हुआ तब उनको अपनी भ्रान्ति का ज्ञान हुआ। उनको निश्चय हो गया कि अवश्य सीता को कोई राक्षस उठा ले गया है। तब शोक से व्याकुल होकर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि "भाई! जानकी कहाँ गईं। उनके बिना मैं कैसे जीऊँगा।" इसी तरह रामचन्द्रजी विलाप करते करते व्याकुल हो गये और मूर्च्छा खाकर धरती पर गिर पड़े। लक्ष्मणजी ने उनको बहुत समझाया, पर वे उनकी बातों का अनादर करके सीताजी को याद करते हुए आंसू बहाने और विलाप करने लगे।

रामचन्द्रजी को इतना अधिक शोकाकुल देखकर लक्ष्मणजी को भी बहुत दुःख हुआ। उन्होंने वहाँ जितने स्थान थे, सभी छान डाले, परन्तु सीताजी का कहीं पता न लगा। इसी तरह ढूँढ़ते ढूँढ़ते वे दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। मार्ग में उन्हें एक गहन वन मिला। उसमें भी सीताजी को बहुत ढूँढ़ा, पर वहाँ भी कहीं पता न लगा। जब वे मतङ्ग ऋषि के आश्रम में पहुँचे तब मार्ग में उनको एक और आपत्ति का सामना करना पड़ा। वहाँ कबन्ध नामक एक राक्षस रहता था। दोनों भाइयों के कोमल शरीर को देखकर उस पापी के मुँह में पानी भर आया। कारण यह कि वह इन्हें मार कर खाना चाहता था। उसके भयंकर और विकट रूप को देख कर बड़े बड़े धीर, वीर पुरुषों का हृदय काँपने लगता था। उसकी भुजायें बड़ी लम्बी थीं। जब ये दोनों भाई उसके समीप पहुँचे तब कबन्ध ने अपनी लम्बायमान भुजाओं में दोनों को बाँध लिया। कबन्ध के पंजे में फँस कर लक्ष्मणजी विकल होकर निराश होने लगे। उस समय रामचन्द्रजी ने उनको बहुत साहस दिलाया। फिर दोनों भाइयों ने भय को दूर करके उस भीमदर्शन राक्षस की दोनों भुजायें भग्न कर डालीं। बाँह कट जाने पर कबन्ध का सारा शरीर रुधिराप्लुत हो गया। वह तुरन्त पृथ्वी पर गिर गया। उसने गिरते ही दोनों भाइयों का परिचय जानना चाहा। उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त उसको सुना दिया। कबन्ध ने उनका वृत्तान्त ज्ञात करके उनसे कहा कि "मैं सीता का पता जानता हूँ। उसको रावण हर ले गया है। तुम इस समय ऋष्यमूक पर्वत पर जाओ। वहाँ अपने मन्त्रियों के साथ किष्किन्धापुरी का राजा सुग्रीव रहता है। उससे मित्रता करके तुमको बहुत लाभ होगा।" यह कह कर उसने ऋष्यमूक पर्वत का मार्ग बता दिया। फिर वह जल्द ही परलोक को सिधार गया।

यहाँ पर एक बात बड़े महत्त्व की है । वाल्मीकि मुनि ने अपने आदि-काव्य रामायण में लिखा है:—

> एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरौ ।
> गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥
> लक्ष्मणस्तु महोल्काभिर्ज्वलिताभिः समन्ततः ।
> चितामादीपयामास सा प्रजज्वाल सर्वतः ॥

(वा० रा०, काण्ड ३, सर्ग ८२)

सारांश यह कि जब कबन्ध रामचन्द्रजी से बातचीत करके मर गया तब दोनों भाइयों ने उसके मृत शरीर को उठा कर एक गुफा में रख दिया और लक्ष्मणजी ने उसकी चिता में आग लगा दी । उस का शरीर भस्म हो गया ।

अहा ! ऐसे संकट के समय में भी सदाचारी रामचन्द्रजी समयोचित सत्कर्म करना नहीं भूले । भूलते क्यों ? वे आर्य्य थे । उन्होंने धार्मिक शिक्षा से अपना आत्मा पवित्र और उज्ज्वल बना रक्खा था । इतने बड़े चक्रवर्ती राजा के ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी कबन्ध के शरीर को छूने और उसकी दाहक्रिया करने में उन्होंने अपनी कोई अप्रतिष्ठा नहीं समझी ! कारण यह कि वे आजकल के अर्धशिक्षित जनों के समान नीचजनों से घृणा नहीं करते थे । नीचातिनीच राक्षस कबन्ध के अपवित्र शरीर को भस्म करके उन्होंने धर्मपालन, लोकसेवा और परोपकार की पराकाष्ठा दिखा दी । यदि वे उसके शरीर को अग्नि में भस्म न करते तो उसका शरीर वहीं पड़ा पड़ा सड जाता और वायु को दूषित कर देता । दूषित वायु मे श्वास लेने से प्राणियों को बड़ा कष्ट होता और सबका स्वास्थ्य बिगड़ जाता । परन्तु नहीं, रामचन्द्रजी महाज्ञानी और विचारशील थे । वे इन सब बातों के मर्म को अच्छी तरह जानते थे । इसी लिए उन्होंने कबन्ध के शव को भस्म करके अपने कर्तव्य का पालन

किया और सबको दिखा दिया कि अपने कर्तव्यपालन के लिए, परोपकार के लिए, ऐसे ऐसे कामों से कभी किसी को घृणा नहीं करनी चाहिए। लोक-सेवा के कार्य से कभी किसी को मुँह नहीं मोड़ना चाहिए।

रामचन्द्रजी के उपासको, क्या तुम रातदिन कोरा 'राम राम' ही रटते रहोगे या कभी उनके उपदेशप्रद और अनुकरणीय पवित्र चरित्र से भी कुछ शिक्षा ग्रहण करके अपनी सच्ची भक्ति का परिचय दोगे? स्मरण रक्खो, जब तक तुम मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के अनुकरणीय चरित को मन लगा कर न पढ़ोगे और तदनुसार अपना आचरण न बनाओगे तब तक तुम्हारा रामभक्त कहलाना विडम्बना मात्र ही समझा जायगा। यदि तुम सच मुच रामभक्त हो, तुम्हारे हृदय में रामचन्द्रजी का कुछ भी प्रेम है, तो आओ, संसार के कर्मक्षेत्र में कमर कस कर खड़े हो जाओ और बिना उच्च नीच के विचार किये, समस्त प्राणियों को एक ही परमात्मा के सन्तान मान कर, सबको गले लगाओ और विपत्ति के समय यथाशक्ति सबकी सहायता करो।

यदि आजकल के सभ्य भारतवासी, जो अपने को शिक्षित होने का दम भरते हैं, ऐसे अवसर में उपस्थित हों तो वे नाक-भौं सिकोड़ कर दूर रह जायँ। वे शव के पास भी न खड़े हों, उसको उठाना और भस्म करना तो दूर रहा। कारण यह कि अभी तक भारतवासियों ने शिक्षा का वास्तविक मर्म जाना ही नहीं। अभी तक उनको यही मालूम नहीं कि मनुष्य महत्त्व-पदवी को क्यों कर प्राप्त होता है। अस्तु।

रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी दोनो भाई कबन्ध के पाञ्चभौतिक शरीर को भस्म करके उसके बताये हुए मार्ग से ऋष्यमूक पर्वत की ओर चल दिये। उस समय दोनों भाइयों का कोमल हृदय सीताजी

के विरहाग्निताप से ऐसा उत्तप्त हो रहा था कि वहाँ अनेक दर्शनीय आश्रमों और मनोहर दृश्यों के देखने पर भी उनको कुछ शान्ति न मिली। इसी प्रकार सीताजी को ढूँढ़ते हुए दोनों भाई पम्पा नामक सरोवर के समीप पहुँच गये। उसी सरोवर के पश्चिमी तट पर एक अत्यन्त रमणीय आश्रम था। वहाँ शवरी नाम की एक तपस्विनी रहती थी। यद्यपि शवरी का जन्म नीच कुल में हुआ था तथापि साधुजनों के सत्संग से उसके कर्म उत्तम कोटि के थे। उसी सुरम्य आश्रम में वह एक कुटी में रहती थी और ईश्वर का भजन किया करती थी। दोनों भाई आश्रम का दर्शन करते करते शवरी के पास पहुँच गये। वृद्धा और परम तपस्विनी शवरी की तेजःपुञ्ज मूर्ति को देख कर दोनों भाई बहुत प्रसन्न हुए। शवरी ने भी उन दोनों भाइयों के दर्शन करके अपने जन्म को सफल किया। उसने दोनों भाइयों की बड़ी भक्ति से अतिथि-पूजा की। उसके सत्कार से दोनों भाई बहुत सन्तुष्ट हुए। वहाँ से लौट कर वे फिर पम्पा के तट पर आये। पम्पा सरोवर बहुत ही रमणीय था। उसका जल अत्यन्त निर्मल था। उसमें कमल के फूल खिल रहे थे। वहाँ नाना प्रकार के पक्षी बोल रहे थे। उसमें कीचड़ का कहीं नाम तक न था। सब जगह स्वच्छ बालू ही बालू थी। वहाँ नाना प्रकार के फूल खिल रहे थे। उसके तट पर चारों ओर नाना प्रकार के वृक्ष शोभा दे रहे थे। उस सरोवर के आस पास अनेक सुरम्य उपवन थे। वहाँ आनन्द में मग्न होकर मयूरगण प्यारी बोली बोल रहे थे। उस सरोवर की मनोरम शोभा को देख कर रामचन्द्रजी के हृदय में पत्नी-विरह की आग और भी अधिक धधक उठी। वे विलाप करने लगे। सीताजी को स्मरण करके वे बालकों के समान फूट फूट कर रोने लगे। धीरबुद्धि लक्ष्मणजी ने धैर्य धारण करके रामचन्द्रजी को बहुत समझाया और कहा कि "आर्य, आप सरीखे

विद्वान् और धीर पुरुष इतना शोक नहीं किया करते। शोक करने से कुछ लाभ नहीं। अब सीताजी के प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए।"

पम्पा के समीप ही ऋष्यमूक पर्वत था। वहाँ सुग्रीव रहता था। वह बड़ा धार्मिक था। उसके बड़े भाई का नाम बाली था। वह बड़ा पापी था। उसने सुग्रीव की स्त्री, धन, राज्य सब छीन लिया और उसको घर से बाहर निकाल दिया। उसी के डर से सुग्रीव अपने चार पाँच मन्त्रियों के साथ ऋष्यमूक पर्वत पर रहता था। दूर से शस्त्रास्त्र-धारी दोनों भाइयों को देख कर सुग्रीव को बड़ी चिन्ता हुई। कारण यह कि उसको बाली का भय सदा बना रहता था। सुग्रीव ने डर कर अपने साथियों से सलाह ली। सबकी सम्मति से यह निश्चय हुआ कि सुग्रीव का प्रधान मन्त्री हनुमान् को उनका भेद लेने के लिए उनके पास भेजा जाय। हनुमान् बड़े विद्वान्, धार्मिक, बुद्धिमान् और स्वामि-भक्त थे। वे राजा की आज्ञा को शिरोधार्य करके रामचन्द्रजी के पास चल दिये। हनुमान्जी बड़े राजनीतिज्ञ थे। राजनीति के दाँव-पेचों को भी वे अच्छी तरह जानते थे। वे असली वेश से नहीं गये, किन्तु भिक्षुक ब्राह्मण का वेश बना कर वे रामचन्द्रजी का भेद लेने को गये।

दोनों भाइयों के समीप पहुँचते ही हनुमान्जी ने पहले उनसे उनका परिचय प्राप्त किया और तदनन्तर अपना परिचय दे कर कहा कि "महाराज, हमारे राजा सुग्रीव आपसे मित्रता करने की इच्छा रखते हैं।" हनुमान्जी के मुख से यह समाचार सुन कर रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को बहुत आनन्द हुआ। वे मन में कहने लगे कि "जिसको हम खोज रहे थे, जिसके साथ हम मित्रता करना चाहते थे, वह स्वयं हमसे मित्रता करना चाहता है। इससे अच्छी बात हमारे लिए और क्या होगी।" सुग्रीव की पहले से ही मित्रता की इच्छा है, यह समाचार

सुन कर दोनों भाइयों को अपार हर्ष हुआ। लक्ष्मणजी ने भी अपना परिचय देकर हनुमान्जी के साथ बातचीत की। उनके भाषण से दोनों भाई बड़े प्रसन्न हुए। कारण यह कि हनुमान् बड़े विद्वान् थे। उन्हें संस्कृत-व्याकरण का पूरा ज्ञान था। उनकी संस्कृतज्ञता की इससे अधिक और क्या प्रशंसा हो सकती है कि उनके शुद्ध भाषण को सुन कर स्वयं रामचन्द्रजी मुग्ध हो गये! हनुमान्जी ने, परिचय हो जाने के अनन्तर, लक्ष्मणजी से सुग्रीव की बड़ी बड़ाई की।

पाठकवर्ग, हनुमान्जी की यथार्थ प्रशंसा करने का यहाँ अवकाश नहीं। उनके गुणों का यथार्थ वर्णन किया जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो सकती है। उनके गुणों का परिचय तो आपको उनके कामों से होता रहेगा। यहाँ हमें केवल यही कहना है कि वे अनुपम बली थे।

जब हनुमान्जी ने देखा कि ये सुकुमार राजकुमार पर्वत की चढ़ाई के योग्य नहीं हैं तब उन्होंने दोनों भाइयों को उठा कर अपने कंधों पर चढ़ा लिया। उनको उठा कर महाबली हनुमान्जी सुग्रीव के समीप आये।

सुग्रीव के समीप पहुँच कर हनुमान्जी ने स्वयं अपने मुख से रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी की प्रशंसा की और उनका परिचय कराया। तदनन्तर सुग्रीव ने प्रसन्न होकर कहा—"राम, मैंने हनुमान् के द्वारा आपकी बहुत प्रशंसा सुनी है। आप बड़े तपस्वी और धर्मात्मा हैं। मैं एक वनवासी तुच्छ प्राणी हूँ। मैं आपके साथ मित्रता करना चाहता हूँ। आपके साथ मित्रता करने मे ही मेरा लाभ है और इसी में मेरा सम्मान है। यदि आप मेरे साथ मित्रता स्थापन करना चाहें तो लीजिए, मैं अपनी भुजायें फैलाता हूँ। आप ग्रहण कीजिए और मित्रता की प्रतिज्ञा को सदा अटल रखिए।"

इतना सुन कर रामचन्द्रजी ने बड़ी प्रसन्नता से सुग्रीव का आलिङ्गन किया। इतने में ही महाबुद्धिशाली हनुमानजी ने अग्नि लाकर स्थापित कर दिया। रामचन्द्रजी और सुग्रीव ने अग्निदेव की परिक्रमा करके मित्रता की रीति का निर्वाह किया और फिर दोनों समीप ही बैठ गये। एकान्त मे बैठ कर दोनों मित्र परस्पर वार्तालाप करने लगे।

सुग्रीव ने कहा—"मित्र, यदि सीतादेवी आकाश मे या पाताल मे भी होंगी तो मैं उनको लाकर अवश्य आपके हाथ में सौंप दूँगा। आप शोक दूर कीजिए। मेरी प्रतिज्ञा कभी असत्य न होगी।"

सीतादेवी के विषय में बात-चीत करते समय सुग्रीव को एक पुरानी बात का स्मरण हो आया। वह यह कि एक दिन अपने साथियों के साथ सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर बैठा था। उसी समय एक राक्षस किसी स्त्री को बलात् पकड़ कर आकाश-मार्ग से लिये जाता था। वह नारी बहुत रोती और विलाप करती जाती थी। उस पर्वत के शिखर पर सुग्रीव आदि को बैठा देख कर उसने अपने उत्तरीय वस्त्र के एक खंड में लपेट कर अपने कुछ गहने उनके पास फेंक दिये थे। सुग्रीव ने उनको उठा कर सुरक्षित रख छोड़ा था।

इसी बात को स्मरण करके सुग्रीव को निश्चय हो गया कि अवश्य वह राक्षस रावण होगा और वह रोती-चिल्लाती हुई स्त्री सीतादेवी होंगी। यही सोच कर सुग्रीव ने वे आभूषण मँगवा कर रामचन्द्रजी के सामने रख दिये और कहा कि इन्हें पहचानिए तो, ये आभूषण सीतादेवी के तो नहीं हैं? देखते ही रामचन्द्रजी ने उन अलङ्कारों को पहचान लिया। आभूषणों को पहचान कर रामचन्द्रजी के नेत्र अश्रुजल से परिपूर्ण हो गये। वे सीतादेवी को याद करके विलाप करने लगे और उन आभूषणों को बार बार हृदय से लगा लगा कर रोने पीटने लगे। उस समय लक्ष्मणजी भी उनके समीप ही पीछे को बैठे थे।

उन्हें देख कर रामचन्द्रजी रोते रोते कहने लगे कि "लक्ष्मण, देखो, राक्षस के वश में हुई जानकी ने अपने उत्तरीय वस्त्र में बांध कर ये गहने इस पर्वत पर फेंके थे। तनिक तुम भी तो पहचानो, ये उन्हीं के हैं न ?"

आभूषणों को देख कर लक्ष्मणजी ने कहा:—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

(वा० रा०, काण्ड ४, सर्ग ६)

"हे आर्य, मैं इन केयूरों को नहीं जानता और कुण्डलों को भी नहीं पहचानता। हां, इन नूपुरों को जानता हूँ, क्योंकि उनके चरणों में नित्य प्रणाम करने के कारण मैं इन्हें प्रतिदिन देखा करता था।"

धन्य है! सुमित्रानन्दवर्धन लक्ष्मण, आपको धन्य है! आपने धर्म-पालन की पराकाष्ठा दिखा दी। आपके अतिरिक्त और कोई भी मनुष्य इस प्रकार धर्म का पालन नहीं कर सकता। आप तो मर्यादापुरुषोत्तम थे। भला, आप ही ऐसा न करते तो कौन करता? पाठक-पाठिका-गण, सुना आपने लक्ष्मणजी ने क्या कहा? वे कहते हैं, मैंने सीताजी के केयूर आज तक कभी नहीं देखे और कानों के कुण्डल भी कभी नहीं देखे। इस कारण मैं नहीं कह सकता कि ये आभूषण सीताजी के हैं या किसी और के! हाँ, प्रतिदिन प्रणाम करते समय मेरी दृष्टि सीताजी के चरणों में पड़ा करती थी, इसलिए मैं इन नूपुरों को पहचानता हूँ। ये उन्हीं के हैं। अहा! वर्षों साथ रहने पर भी लक्ष्मणजी की दृष्टि आज तक भी सीताजी के किसी आभूषण तक पर नहीं पड़ी, अंग पर दृष्टिपात की तो बात ही क्या! क्या आजकल खोज करने पर भी कोई माई का लाल ऐसा धार्मिक देवर मिल सकता है?

अस्तु, रामचन्द्रजी को शोक में व्याकुल देख कर सुग्रीव ने उनको बहुत समझाया और कहा कि "शोकमात्र करने से कार्य सिद्ध नहीं हो

सकता। बुद्धिमान् मनुष्य को धैर्य्य के साथ आपत्ति के दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। मुझे तो देखिए, मेरे भाई बाली ने मेरी स्त्री, राज्य, धन सब कुछ ले लिया और इतना ही नहीं, उसने मुझको घर से भी निकाल दिया। क्या मुझको कम दुःख है? परन्तु मैं शोक से व्याकुल नहीं होता। मैं धैर्य के साथ कार्यसिद्धि के उपायों को सोचता रहता हूँ।

जब सुग्रीव के वचनों से रामचन्द्रजी का शोक कुछ कम हुआ तब वे कर्तव्यचिन्ता में मग्न हुए। कुछ देर सोच-विचार करने के पश्चात् रामचन्द्रजी ने कहा—"मित्र, आपके सुशीतल वचनों से मेरे उत्तप्त हृदय को बहुत शान्ति मिली। आपके समान सुहृद् मिलना बहुत कठिन है। अब आपको जानकी के ढूँढ़ने और उस दुराचारी राक्षस के मारने का शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए। और अब मैं आपका क्या काम करूँ सो भी कहिए।" जब स्वयं रामचन्द्रजी जिसकी सहायता करना चाहते हैं उसके लिए जगत् में क्या दुर्लभ है? स्वराज्य क्या, देवराज्य तक उसको दुर्लभ नहीं। रामचन्द्रजी की सहायता से सुग्रीव सारे संसार का एकच्छत्राधिकारी राज्य भोग सकता है।

तदनन्तर सुग्रीव ने बाली के साथ वैरभाव होने का सब कारण, और आज तक जो जो युद्धादि हुआ था वह सब भी रामचन्द्रजी को सुना दिया। उसने अपने बड़े भाई बाली के पौरुष की बड़ी बड़ाई की। उसने कहा—"महाराज, बाली के समान बलवान् दूसरा कोई पुरुष संसार में नहीं है। मैं उसी के बल से परास्त होकर घर द्वार छोड़ कर यहाँ पर्वत पर पड़ा दिन काट रहा हूँ।" इतना सुनतेही रामचन्द्रजी मन में सोचने लगे कि पहले मित्र की आपत्ति दूर करके उसको सुखी करना चाहिए; सबसे पहले सुग्रीव आपत्ति से मुक्त न होगा तो फिर वह हमारा काम कैसे कर सकेगा?

यही सोच कर रामचन्द्रजी ने बाली के मारने की प्रतिज्ञा की और कई प्रकार से अपने बल-पौरुष का परिचय सुग्रीव को दिया। रामचन्द्रजी के अपूर्व बल-विक्रम को देख कर सुग्रीव तथा उसके समस्त साथी अत्यन्त आनन्दित हुए।

रामचन्द्रजी के कथनानुसार सुग्रीव ने उसी दिन से युद्ध करने का निश्चय कर लिया। वह रामचन्द्रजी को साथ लेकर उसी दिन किष्किन्धापुरी को चल दिया। यही पुरी बाली की राजधानी थी। किष्किन्धापुरी के द्वार पर पहुँचतेही सुग्रीव ने युद्ध के लिए बाली को ललकारा। सुग्रीव के सिंहनाद को सुन कर महाबली बाली के शरीर का क्रोधाग्नि धधक उठा। वह तुरन्त द्वार पर आया और सुग्रीव के साथ युद्ध करने लगा। जिस समय उन दोनों का घोर युद्ध हो रहा था उस समय रामचन्द्रजी धनुष पर बाण चढ़ाये हुए एक वृक्ष की ओट में खड़े थे। वे वहीं से बाण चला कर बाली को मारना चाहते थे परन्तु बाली और सुग्रीव का रूप और वंश समान होने के कारण उन को यह न मालूम हो सका कि इन दोनों में बाली कौनसा है। बस, मित्र के मारे जाने की शङ्का से उन्होंने बाण नहीं छोड़ा।

कुछ देर तक तो सुग्रीव बाली के साथ साहसपूर्वक युद्ध करता रहा; परन्तु अन्त में बाली ने उसको परास्त कर दिया। जब सुग्रीव को रामचन्द्रजी की भी सहायता की आशा न रही तब वह अपने प्राण बचा कर ऋष्यमूक पर्वत की ओर भाग निकला। कुछ दूर तक तो बाली उसके पीछे पीछे भागा, परन्तु जब वह बहुत दूर निकल गया तब वह किष्किन्धा को लौट आया।

सुग्रीव ने बाली के हाथ से युद्ध में इतनी मार खाई थी कि उसका सारा शरीर जर्जरित और रुधिराक्त हो गया। यदि सुग्रीव थोड़ी देर और युद्ध करता तो निःसन्देह उस दिन बाली के हाथ से मारा जाता।

सुग्रीव आकर बैठा ही था कि इतने में रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और हनुमान्‌जी आदि भी आ पहुँचे। उनको देख कर मारे लज्जा के सुग्रीव का सिर नीचा पड़ गया। तदनन्तर वह अभिमान में भर कर रामचन्द्रजी को कठोर वचन कहने लगा। रामचन्द्रजी बहुत शान्त थे। उन्होंने मित्र के कठोर वचनों का तनिक भी बुरा न माना। वे उलटा और उसको समझाने लगे—"मित्र, क्रोध न करो। मैंने आज जिस कारण बाण नहीं छोड़ा उसे सुनो। जिस समय तुम दोनों भाई युद्ध कर रहे थे उस समय मैं दूर से तुमको पहचान न सका। इसी लिए मैंने प्राणान्तक बाण नहीं छोड़ा। मुझे सन्देह था कि कहीं भूल में मित्र का घात न हो जाय। तुम निश्चय रक्खो। मैं सत्य कहता हूँ कि इस समय तुमको छोड़ कर हमारा सहायक और नहीं है। इस समय मैं, लक्ष्मण और जानकी तीनों तुम्हारे अधीन हैं। एक बार फिर जाकर बाली के साथ युद्ध करो। अबकी बार तुम देखोगे कि मेरे एक ही बाण से मर कर बाली धरती पर लोटने लगेगा।" इतना कह कर रामचन्द्रजी ने पहचान के लिए सुग्रीव के गले में नागपुष्पी लता बाँध दी।

रामचन्द्रजी की आज्ञा से फिर सब लोग किष्किन्धा पहुँचे। सुग्रीव ने द्वार पर जाकर फिर युद्ध के लिए बाली को पुकारा। सुग्रीव की गर्जना सुन कर मारे क्रोध के महाबली बाली के नेत्र आग के समान बलने लगे। वह क्रोध में भर कर तुरन्त युद्ध के लिए उठ कर चल दिया। वह चला ही था कि इतने में उसकी तारा नाम की स्त्री ने उसके सामने आकर उसका मार्ग रोक लिया। तारा बड़ी पतिप्राण-यिनी और बुद्धिमती थी। जब बाली ने उससे मार्ग रोकने का कारण पूछा तब बुद्धिमती तारा ने कहा—"स्वामिन्, आज आपको युद्ध के लिए जाता देख कर मेरा हृदय काँप रहा है। मैं नहीं चाहती कि आप

आज युद्धभूमि में जायँ। सुनिए। अभी कल-परसों सुग्रीव आपसे परास्त होकर भाग गया था और वह फिर इतनी जल्दी युद्ध करने के लिए आया है—इसमें अवश्य कोई रहस्य की बात है, अवश्य इस बात का कोई गुप्त भेद है। और हाँ, गुप्तभेद नहीं वह तो स्पष्ट है। अब मुझे स्मरण आ गया। अभी दो चार दिन हुए युवराज अङ्गद ने मुझसे आकर कहा था कि "माताजी, हमने आज अपने गुप्तचरों के द्वारा यह समाचार सुना है कि राम-लक्ष्मण नामक दो राजकुमार ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव के समीप आकर ठहरे हैं और सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता हो गई है। हमने यह भी सुना है कि रामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों भाई महाबली और महापराक्रमी हैं।" इसी लिए मेरा अनुमान है और अनुमान क्या सच्ची बात है कि सुग्रीव का इतनी जल्दी फिर युद्ध करने के लिए आना कुछ गुप्त अर्थ रखता है। और वह अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं कि रामचन्द्रजी उसकी सहायता करने का वचन दे चुके होंगे। ऐसा न होता तो सुग्रीव किसके बल पर आपसे दुबारा युद्ध करने के लिए आता। और यदि मेरा विचार ठीक है, रामचन्द्रजी सचमुच उसके सहायक हैं, तो मुझको पूर्ण विश्वास है कि आपके लिए अच्छा नहीं।

इसी प्रकार तारा ने वाली को बहुत समझाया। परन्तु वाली भी एक ही तेजस्वी पुरुष था। वह अपने बल को जानता था और इसी लिए, अपने बाहुबल के भरोसे पर ही, उसने अपनी स्त्री की बात न मानी। वाली ने कहा—"मैं जानता हूँ, रामचन्द्रजी धर्मज्ञ और कर्तव्य-परायण हैं। वे ऐसा घोर पापकर्म कदापि न करेंगे।"

इसी तरह तारा को समझा कर वाली युद्धभूमि में आकर सुग्रीव के साथ घोर युद्ध करने लगा। वाली महाबली था। उसका एक एक प्रहार बड़ा भयङ्कर होता था। उसके कठिन प्रहार से सुग्रीव का शरीर

जर्जरित हो गया। रामचन्द्रजी धनुषबाण हाथ में लिये एक वृक्ष की ओट में खड़े थे। जब उन्होंने देखा कि अब सुग्रीव युद्ध करते करते थक गया और अब फिर भागना चाहता है तब उन्होंने तरकस में से एक भुजङ्गभीषण बाण निकाल कर धनुष पर चढ़ाया और कान पर्यन्त प्रत्यञ्चा को खींच कर वाली का लक्ष्य करके ऐसे वेग से बाण छोड़ा कि सनसनाता हुआ वाली के शरीर में जा घुसा। बाण के लगते ही वाली, छिन्नमूल वृक्ष के समान, भूमि पर गिर पड़ा। बाण के लगने से वाली को प्राणान्तक वेदना हुई और वह बड़े कष्ट से ऊर्ध्व-श्वास लेने लगा। अब तक जो वाली को यह विश्वास था कि रामचन्द्रजी धार्मिक और शूरवीर हैं वह अब सर्वथा जाता रहा। वाली को स्वप्न में भी यह ध्यान न था कि रामचन्द्रजी ऐसी कापुरुषता का काम कर बैठेंगे। सिसकता हुआ वाली कहने लगा—"मेरे सामने न आकर रामचन्द्रजी ने जो छिप कर मुझको मारा है इससे संसार में उनकी भारी निन्दा होगी। मैंने उनका आज तक एक भी अपराध नहीं किया था, तो फिर न जाने उन्होंने अकारण द्वेष के वश में होकर मुझको क्यों मार डाला। क्या अकारण वैरभाव रखने में पाप नहीं होता? अब मुझको मालूम

उनको यह विचार करना उचित था कि रामचन्द्रजी सुग्रीव के मित्र थे। मित्र की सहायता करना मित्र का परम धर्म है। दूसरे उन्होंने सुग्रीव से बाली के मारने की प्रतिज्ञा भी कर ली थी। रामचन्द्रजी सत्यप्रतिज्ञ थे। प्रतिज्ञा का पालन करना ही उनका मुख्य धर्म था। तीसरे बाली ने अपने छोटे भाई सुग्रीव की धर्मपत्नी को अपने अधिकार में कर लिया था। पुत्री के समान लघुभ्राता की पत्नी को वश में कर लेना क्या भारी पाप नहीं ? इस कारण पापी बाली को मार कर रामचन्द्रजी ने अन्याय का नहीं, किन्तु न्याय और धर्म का ही काम किया। इस काम के लिए कोई भी विचार-शील रामचन्द्रजी को दोषी अथवा अधर्मी सिद्ध नहीं कर सकता।

यद्यपि अधर्मी बाली को समुचित दण्ड देकर रामचन्द्रजी ने औचित्य का ही पालन किया, धर्मानुसार ही काम किया, तथापि वृक्ष की ओट में छिप कर कापुरुषों की तरह बाली पर बाण का प्रहार करना हमारी तुच्छ दृष्टि में ठीक नहीं प्रतीत हुआ। यद्यपि इस छिप कर बाण मारने के विषय में भी रामचन्द्रजी ने बाली को विस्तारपूर्वक उत्तर दिया, तथापि हमारी सम्मति में वह उत्तर पर्याप्त नहीं जँचता। अन्त में हम तो यही कहेंगे कि यदि रामचन्द्रजी इस प्रकार बाली को न मारते तो अच्छा था।

अस्तु, बाली के मारने का दारुण समाचार तनिक सी देर में सारी किष्किन्धा पुरी में फैल गया। इस भयंकर समाचार के सुनते ही तारा के शरीर में बिजली सी कौंद गई। वह सिर के बाल बखेर कर रोती पीटती हुई बाली के अन्तिम दर्शन करने को चल पड़ी। उसके साथ और भी कितनी ही सखियाँ रोदन करती हुई चलीं। सारी पुरी में हाहाकार मच गया। रणक्षेत्र में वीरशय्या पर पड़े हुए बाली को देख कर तारा छाती पीट पीट कर रोने और विलाप करने

लगी। उस समय तारा के दारुण विलाप को सुन कर पाषाण-हृदय भी द्रवीभूत हो जाता था। उसके विलाप को सुन कर सुग्रीव का हृदय भी अधीर हो उठा। युवराज अङ्गद पिता की ऐसी दशा देख कर फूट फूट कर रोने और अश्रुधारा बहाने लगा। उस समय वहाँ जितने मनुष्य थे उन सब में रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी दो ही अधिक धैर्यवान् थे; परन्तु तारा के करुणारस भरे विलाप को सुन कर उनका चित्त भी चञ्चल हो उठा। इधर तो यह हाहाकार मच रहा था और उधर कण्ठगतप्राण वाली ने सुग्रीव को बुला कर कहा—"सुग्रीव, मैं अपने दौर्भाग्य से, अथवा पापकर्मों के फल से, अज्ञान और अधर्म में फँस गया। मैंने अपने हाथों अपने पाँव में कुल्हाड़ी मार ली। तुम मेरे अपराधों की ओर दृष्टिपात न करना। मेरे भाग्य में भ्रातृप्रेम के साथ राज्यसुख का भोगना न बदा था। नहीं तो यह बुद्धिव्यामोह क्यों उत्पन्न होता। अस्तु, अब तुम इस राज्य का पालन करो। मैं प्राणत्याग करता हूँ।" इतना कह कर वाली ने प्राणप्रिय अङ्गद को और तारा को सुग्रीव की रक्षा में सौंप दिया। अङ्गद को कुछ उपदेश देकर तथा रामचन्द्रजी से क्षमा प्रार्थना करके वाली अनन्त निद्रा में निमग्न हो गया।

वाली की मृत्यु का समाचार सुन कर एक तारा और अङ्गद ही नहीं, सारी किष्किन्धापुरी शोकसागर में निमग्न हो गई। सर्वत्र हाहाकार मच गया। तदनन्तर सब लोग वाली के मृत-देह को एक पालकी में रख कर श्मशानभूमि को ले गये। वहाँ चन्दन की चिता में उसका अन्त्येष्टि संस्कार किया गया।

तदनन्तर किष्किन्धा के राजसिंहासन पर सुग्रीव को बैठाया गया और वाली की इच्छानुसार अङ्गद को युवराज बनाया गया। पिता की आज्ञा के पालन के अनुरोध से रामचन्द्रजी तो किष्किन्धा

पुरी मे गये नहीं, किन्तु उन्होंने यह सब काम कराने के लिए लक्ष्मणजी को भेज दिया था।

इतने मे ही वर्षाकाल आ पहुँचा। वर्षाकाल में यात्रा का कार्य्य शिथिल कर दिया जाता है। कारण यह कि वर्षाऋतु में यात्रियों को यात्रा करने में अनेक प्रकार की असुविधायें होती हैं। इसलिए रामचन्द्रजी ने सुग्रीव से कह दिया कि अब तो वर्षाकाल आ गया। यह समाप्त हो जाय तो कार्तिक मास में तुम अपनी सेना को जानकी की खोज के लिए भेजना। अभी तुम अपने महलों में सुखपूर्वक निवास करते हुए राजकाज करो।

रामचन्द्रजी की आज्ञा से सुग्रीव तो किष्किन्धा में रहने लगा और स्वयं रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी के साथ प्रस्रवण नामक पर्वत पर निवास करने लगे। जब वर्षा होने लगती तब तो रामचन्द्रजी किसी कन्दरा में रह कर समय बिताते और जब वर्षा बन्द हो जाती तब फिर गुफा से निकल कर प्राकृतिक दृश्यों को देख देख कर जैसे तैसे अपने दिन काटते थे।

वर्षाकाल की प्राकृतिक शोभाओं को देख देख कर रामचन्द्रजी के मन में जानकीजी का विरहाग्नि और भी अधिक बढ़ने लगा। जब देखिए तभी उनके नेत्रों से अश्रु-जल-धारा बहती रहती थी। सीता का वियोग उन्हें सर्वदा सताता रहता था। धीर वीर लक्ष्मणजी यथाशक्ति रामचन्द्रजी को समझाते रहते थे, परन्तु रामचन्द्रजी के हृदय से विरह का दुःख कम न हुआ। वर्षा के होने से सारी पृथ्वी की गर्मी शान्त हो गई, जड़-चेतन सभी शीतल हो गये, परन्तु जिस प्रकार चूने के ढेले पर पानी के गिरने से उसमें गर्मी उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जल की वर्षा से, मेघों की गर्जना से, बिजली की चमक से और शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन के चलने से रामचन्द्रजी के

विरहाग्निदग्ध हृदय को कुछ भी शान्ति न मिली, किन्तु उनके हृदय का विरहाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो उठा।

वर्षा के व्यतीत हो जाने पर शरत्काल का आरम्भ हो गया, परन्तु सुग्रीव ने अभी तक अपनी सेना को सीताजी के ढूँढ़ने की आज्ञा नहीं दी। राज्यसुख के भोग में सुग्रीव अपने हितकारी मित्र के काम को भूल गया। सुग्रीव की इस शिथिलता पर रामचन्द्रजी को बहुत क्रोध आया। उन्होंने अपने मित्र को चेतावनी देने के लिए लक्ष्मणजी को उसके पास भेजा।

बड़े भाई की आज्ञा पाकर जब लक्ष्मणजी किष्किन्धापुरी को चले तब मारे क्रोध के उनके नेत्र आग के समान बलने लगे। पुरी के द्वार पर पहुँचते ही उनकी मूर्ति और भी अधिक भयंकर दिखाई देने लगी। उस समय उनकी भीषण मूर्ति को जिसने देखा वही भयभीत हो गया। जिस समय लक्ष्मणजी सुग्रीव के राजमहल के द्वार पर पहुँचे उस समय सुग्रीव राज्यमद में उन्मत्त होकर रनिवास में पड़ा था। लक्ष्मणजी ने द्वारपाल के द्वारा सुग्रीव के पास अपने आने का समाचार भिजवाया। जब सुग्रीव को लक्ष्मणजी के आने का समाचार मिला और यह भी विदित हुआ कि लक्ष्मणजी बहुत रुष्ट हो रहे हैं तब तो उसके देवता कूच कर गये। वह सोच में पड गया कि अब क्या करना चाहिए। उस समय अधिक सोचविचार का तो अवकाश था ही नहीं, उसने लक्ष्मणजी के बुलाने को बुद्धिमती तारा भेजी। तारा को भेजने का कारण यह था कि वह बुद्धिमती है। वह लक्ष्मणजी से मिलकर पहले उनका क्रोध शान्त कर देगी और यह भी कि लक्ष्मणजी धार्मिक हैं, स्त्री पर कुछ क्रोध न करेंगे। और हुआ भी ऐसा ही। प्रियदर्शना तारा उठ कर द्वार पर आई। उसके आभूषणों की ध्वनि को सुनते ही धर्मात्मा लक्ष्मणजी एक ओर को खड़े हो गये। उनका क्रोध

कम हो गया और तारा को सामने खड़ी देख कर उन्होंने नीचे को मुख कर लिया। बुद्धिमती तारा अपने मधुर कोमल वाक्यों से लक्ष्मणजी का क्रोध शान्त करके कहने लगी—"महाराज, सुग्रीव आपके बड़े भाई का मित्र है। इसलिए यह भाई के समान माननीय है। बुद्धिमान् मनुष्य अपराधी भाई पर भी क्रोध नहीं किया करते। यह माना कि सुग्रीव राज्यसुख के भोग में मोहित हो गया है, परन्तु फिर भी यह रामचन्द्रजी के काम को भूला नहीं है। सीताजी के ढूँढ़ने और रावण के मारने की जो इसने प्रतिज्ञा की है उसके पालन करने के लिए यह तैयार है। आपके आने से पहले ही इसने अपनी सेना को बुलाने के लिए दूत भेज दिये हैं। अभी बहुत जल्द सारी सेना यहां आकर इकट्ठी हो जायगी। इसलिए हे लक्ष्मण, आप क्रोध को दूर करके मेरे साथ अन्तःपुर को चलिए और वहाँ सुग्रीव से बातचीत कीजिए।"

लक्ष्मणजी ने तारा के साथ अन्तःपुर में पहुँच कर देखा कि सुग्रीव विलास में मग्न है। उसे देखते ही महाबली लक्ष्मणजी का क्रोधाग्नि फिर धधक उठा। उन्होंने सुग्रीव को बहुत फटकारा और कहा—"रामचन्द्रजी ने वाली को मार कर तुमको जो राज्य दिया है सो क्या इसलिए कि तुम रातदिन विलास ही में मग्न रहो ? बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है कि जिन्होंने तुम्हारे शत्रु को मार कर तुम्हे राज्य दिलाया, तुम उसी के प्रत्युपकार को ऐसी जल्दी भूल गये ! क्या उपकारी के साथ प्रत्युपकार की प्रतिज्ञा करके इस प्रकार निश्चिन्त बैठना कृतघ्नता नहीं है ? वर्षा समाप्त हो चुकी, शरत्काल आपहुँचा, युद्धयात्रा का समय आपहुँचा, परन्तु तुमको अभी कुछ कर्तव्य का ज्ञान ही नहीं। तुम तो ऐसी लम्बी तानकर सो रहे हो कि मानो तुम कृतकृत्य हो गये। तुमको मालूम नहीं, रामचन्द्रजी को सीताजी का कितना शोक है। अब यह तुम्हारे प्रत्युपकार का समय है। उठो, अपने कर्तव्य

का पालन करो। और देखो, मैं स्पष्ट कहे देता हूँ। यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा का पालन न करोगे तो इस अपराध के लिए तुमको भी उसी मार्ग से जाना होगा जिस मार्ग से वाली गया है।"

लक्ष्मणजी के ऐसे रोषपूर्ण कठोर वाक्यों को सुन कर सुग्रीव का हृदय काँप उठा। तदनन्तर सुग्रीव ने बड़ी नम्रता के व्यवहार से लक्ष्मणजी को प्रसन्न किया। परन्तु क्रोध के शान्त होने पर लक्ष्मणजी को, मित्र के प्रति ऐसे कठोर व्यवहार करने के लिए, बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उनको बहुत लज्जित होना पड़ा। क्रोध शान्त होने पर लक्ष्मणजी सुग्रीव से बड़े प्रेम से मिले और प्रशंसावाद से मित्र का ख़ूब गौरव बढ़ाया। तदनन्तर लक्ष्मणजी के सामने ही सुग्रीव ने हनुमान् और अङ्गद आदि को बुला कर जल्द सेना इकट्ठी करने की आज्ञा दी। राजा की आज्ञा से दूत सेना को बुलाने के लिए चले गये।

तदनन्तर सुग्रीव लक्ष्मणजी को भी अपने साथ पालकी में बैठा कर प्रस्रवण पर्वत को चल दिया। वहाँ पहुँच कर दूतों के भेजने का सब वृत्तान्त उसने रामचन्द्रजी को सुना दिया। मित्र को युद्ध के लिए उद्यत देख कर रामचन्द्रजी को अपार हर्ष हुआ। कुछ दिन बाद जब सुग्रीव की सेना आकर इकट्ठी हो गई तब उसने सीताजी के ढूँढ़ने को सेना जहाँ तहाँ भेज दी। कोई दल पूर्व दिशा को गया, कोई पश्चिम को; और कोई उत्तर को गया और कोई दक्षिण को। दक्षिण दिशा में ही सीताजी के होने की सब को सम्भावना थी। इसी लिए दक्षिण दिशा को जो दूत भेजे गये वे सबमें अधिक बलवान्, बुद्धिमान् और नीतिज्ञ थे। दक्षिण दिशा के यात्रियों में महाबुद्धिमान् हनुमान, महाबली अङ्गद, और सुनीतिज्ञ जाम्बवान ये मुख्य थे। राजा सुग्रीव ने सब दूतों से कह दिया था कि सीताजी को ढूँढ़ कर, चाहे उनका पता मिले या न मिले, सबको एक महीने के भीतर यहाँ आजाना

चाहिए। जो दल सीताजी का पता विना लगाये एक महीने से अधिक समय लगावेगा वह भारी दण्ड का भागी होगा।

रामचन्द्रजी को भी इन्हीं दक्षिण दिशावाले यात्रियों पर विश्वास था। उनमें भी वे महाबुद्धिशाली हनुमान् को सबसे अधिक चतुर और स्वामिभक्त समझते थे। यही कारण था कि रामचन्द्रजी ने अपने हाथ से अँगूठी निकाल कर चलते समय हनुमान् को दी और देकर कहा कि प्रिय हनुमान्, यदि तुमको कहीं जानकी का दर्शन हो तो उनके विश्वास के लिए तुम यह अँगूठी उनको दे देना।

राजा की आज्ञा से सब दल अपनी अपनी दिशाओं को चले गये। पूर्व दिशा को जो सेना भेजी गई थी उसके नायक महावीर विनत थे, उत्तर की सेना के नायक का नाम शतबली था और पश्चिम को जो सेना गई थी उसके सेनापति सुषेण थे।

एक मास की अवधि समाप्त होने में जब दो एक ही दिन शेष रह गये तब सुग्रीव और रामचन्द्रजी हताश होने लगे। इतने में पूर्व, उत्तर और पश्चिम के सब यात्री हताश होकर लौट आये। उन्हें कहीं सीताजी का कुछ पता न लगा। परन्तु अवधि के समाप्त हो जाने पर भी जब हनुमान् और अङ्गद आदि कोई भी दक्षिण दिशा से नहीं लौटे तब रामचन्द्रजी को पूरी निराशता न रही। अभी उनको कुछ कुछ आशा बनी रही।

अब दक्षिणी यात्रियों का वृत्तान्त सुनिए। हनुमान् और अङ्गद आदि वीरों ने जानकीजी को ख़ूब ही ढूँढ़ा, पर कहीं पता न लगा। जब एक मास की अवधि भी समाप्त हो चुकी और सीताजी का भी कुछ पता नहीं लगा तब सब निराश हो गये। सब लोग रामचन्द्रजी और सुग्रीव के भय से कांपने लगे। उन्होंने अन्त में प्रायोपवेशन पूर्वक वहीं मरना निश्चय कर लिया। दक्षिणी समुद्र के किनारे बैठ

कर सब लोग अपनी अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगे। इतने में ही दैवयोग से वहाँ एक वृद्ध पुरुष आ निकला। उसका नाम सम्पाति था। सम्पाति ने उनके पास आकर उनकी निराशता का कारण पूछा। उन्होंने अपना पूरा वृत्तान्त उसको सुना दिया। रावण के निवासस्थान को सम्पाति जानता था। उसने कहा कि तुम लोग निराश क्यों हो गये। उद्योग करो। रावण का पता मैं जानता हूँ। इस समुद्र के पार लंका नामक एक टापू है। बस वहीं वह रहता है। यदि तुममें से कोई ऐसा शक्तिमान् हो तो वहां जाकर सीताजी का पता लगा सकता है।

सीताजी का पता मिलने का सुसमाचार पाकर तो उनको बहुत आनन्द हुआ, परन्तु जब इतनी लम्बी यात्रा का वृत्तान्त सुना तब सब की आशाओं पर पानी फिर गया। सब लोग अलग अलग अपनी अपनी शक्ति का वर्णन करने लगे, परन्तु लंका तक जाने का साहस किसी को न हुआ। वहाँ तक जाने का नाम किसी ने नहीं लिया। अन्त में बहुत कुछ सोचविचार करने के पश्चात् महाबली हनुमान्जी समुद्र पार लंका तक जाने और सीताजी का समाचार लाने के लिए तैयार हुए।

महाबली हनुमान् ने रामचन्द्रजी का स्मरण करके यात्रा प्रारम्भ की। देखते ही देखते महाबली हनुमान् अङ्गदादि की दृष्टि से अन्तर्धान हो गये।

पाँचवाँ काण्ड

सीतान्वेषण और लङ्कादाह

भारतवर्ष के दक्षिणभाग में पहले लंका नामक एक टापू था। उसी को लोग अब सीलौन के नाम से पुकारते हैं। उस टापू में वन, उपवन, पर्वत, गुफायें, नद, नदी और सरोवर आदि सभी कुछ था। वह टापू बहुत सुन्दर और रमणीय था। लङ्कापुरी के चारों ओर समुद्र की खाई थी। उस खाई के तट पर अनेक राक्षस रहते थे जो लङ्कापुरी की रक्षा के लिए नियत थे। उस पुरी की चारों दिशाओं में चार द्वार थे। प्रत्येक द्वार पर शतघ्नी आदि शस्त्रास्त्रों को लिये हुए कितने ही सैनिक राक्षस रातदिन पहरा दिया करते थे। उस पुरी के चारों ओर सोने का प्राकार था। उसके प्रासाद बड़े ऊँचे और चाँदी के समान चमकीले थे। वहां की सड़कें बड़ी चौड़ी और स्वच्छ रहती थीं। कितनी ही सड़कों पर तो वहाँ प्रति दिन चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का छिड़काव हुआ करता था। वहाँ प्रायः समस्त बड़े बड़े प्रासादों में सुवर्ण के स्तम्भ और जाल लगे हुए थे। वह नगरी त्रिकूटनामी पर्वत के ऊपर बसने के कारण दूर से ऐसी दिखाई देती थी कि मानो आकाश को उड़ी जा रही है। वहाँ कितने ही मन्दिर ऐसे थे कि जिनमें सात सात, आठ आठ आँगन थे। प्रासादों की ऊँचाई के विषय में तो कुछ पूछिए ही नहीं। प्रासादों की चोटियाँ आकाश से बातें करती थीं। नगरी के बीच में उद्यानों, काननों और सरोवरों की शोभा देखने ही योग्य थी। कहीं फूल-मन्दिर थे और कहीं चित्रशालायें थीं और कहीं अत्यन्त रमणीय क्रीडाभूमि थी। कहाँ तक कहें, लकापुरी की एक एक बात जी लुभानेवाली थी।

महाबली रावण उस लंकापुरी का अधीश्वर था। उसका पिता ब्राह्मण था और माता राक्षसी थी। उसके दो भाई और थे। एक का नाम कुम्भकर्ण था और दूसरे का विभीषण। कुम्भकर्ण भीमकाय, विकटाकार और रावण के तुल्य ही दुराचारी था। किन्तु उसका छोटा भाई विभीषण वैसा न था। वह जितेन्द्रिय, सदाचारी और धर्मात्मा था। रावण के दुराचारों को देख-सुन कर वह सदा दुःखित हुआ करता था, और समय समय पर वह पापी रावण की, उसके मुँह पर, निन्दा भी किया करता था। रावण के एक पुत्र भी था। उसका नाम था इन्द्रजित्। उसने देवराज इन्द्र को जीत कर ही इन्द्रजित् की पदवी प्राप्त की थी। उसका दूसरा नाम मेघनाद था। वह दुष्ट भी दुराचार में अपने पिता से कम न था।

रावण बड़ा स्वेच्छाचारी और दुराचारी था। इन्द्रियों ने उसको ऐसा वश में कर रक्खा था कि वह भोगलालसा की मूर्ति बना हुआ था। उसने अपना सारा जीवन सांसारिक भोगों की प्राप्ति के लिए ही लगा रक्खा था। उसकी सारी शक्ति, सारा धन और सारा उद्योग इन्द्रियभरण में ही लगता था। धर्म के विचार में उसने कभी एक क्षण भी व्यय नहीं किया। उसने जहाँ तहाँ से सैकड़ों नारियाँ बलात् लाकर अपने महलों में रख छोड़ी थीं। कहाँ तक कहें, उसके दुराचारों का पारावार न था। मन्दोदरी नाम की एक नारी उसकी प्रधान रानी थी। यद्यपि मन्दोदरी बुद्धिमती थी तथापि वह पापासक्त स्वामी को धर्ममार्ग पर न ला सकी। वह शूर्पणखा भी उसी पापी रावण की सहोदरा भगिनी थी। ये दोनों तो एक ही पेट से उत्पन्न हुए थे। फिर भला उनके गुणों में क्यों अन्तर आने लगा था। हमारे कथन का तात्पर्य यही है कि शूर्पणखा अपने भाई से किसी बात में कम न थी। उसी दुष्टा ने वन में जाकर, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी से, अपनी

पापवासना पूर्ण करने के लिए, प्रार्थना की थी ! महाबुद्धिमान् लक्ष्मणजी ने उसको जो दण्ड दिया सो उचित ही था। उसी दुष्टा शूर्पणखा ने लंका में आकर सीताहरण के लिए रावण को उत्तेजित किया था। हमारे पाठकगण इस वृत्तान्त को पहले ही पढ़ कर जान चुके हैं। जिस तरह पतङ्ग ज्योति के रूप को देख कर मोहित हो जाता है उसी तरह आसन्नमृत्यु रावण भी सीतादेवी के अलौकिक रूपलावण्य को देख कर मोहित हो गया और शूर्पणखा की बातों में आकर एकाकिनी सीतादेवी को छल से हर लाया।

सीतादेवी वास्तव में अत्यन्त रूपवती थीं। उनके रूपलावण्य की तुलना जगत् में किसी से नहीं हो सकती। उनका सौन्दर्य्य अलौकिक था। एक तो सीतादेवी में स्वाभाविक सौन्दर्य्य ही ऐसा था कि जिस से वे देवता के समान सुन्दरी थीं और दूसरे यौवनावस्था ने उनका सौन्दर्य्य और भी विलक्षण बना दिया था। तो क्या बस इन्हीं दोनों गुणों के कारण सीतादेवी का सौन्दर्य्य अलौकिक था ? नहीं, ये दो गुण तो संसार की किसी अन्य साधारण नारी में भी संघटित हो सकते हैं। परन्तु सीतादेवी में इन गुणों के अतिरिक्त कुछ और भी गुण थे कि जिनके कारण वे जगत् में अनुपम रूपशालिनी कहलाईं। एक तो सीताजी के सौन्दर्य्य में यह अलौकिकता थी कि उनमें चञ्चलता का नाम न था। उनकी दृष्टि सरल, स्थिर और शान्त थी। उन का मुखारविन्द अलौकिक प्रतिभा-प्रदीप्त था। उनके नेत्रों से पवित्रता और प्रकाश टपका पड़ता था। उनका दर्शन करके दर्शक के मन में सहसा एक प्रकार का आश्चर्ययुक्त भय उत्पन्न हो जाता था। वे ऐसी प्रतीत होती थीं कि मानो स्वाभाविक तेज के कारण अग्नि के समान प्रदीप्त हो रही हैं। यदि सीतादेवी के सम्मुख कोई पापी से पापी भी आ जाता था तो उसके समस्त पाप और असाधुभाव लज्जित हो जाते

थे। पापी मनुष्यों के हृदय में उनके दर्शन करके उनके प्रति श्रद्धाभक्ति उत्पन्न हो जाती थी। घोर दुराचारी भी उनकी पवित्र दृष्टि के सामने आकर अपने दुराचारों को सहसा भूल जाता था। जब सीतादेवी की अमृतमयी दृष्टि क्रूर से क्रूर और कठोर से कठोर मनुष्य पर भी पड़ती थी तब वह भी अपनी क्रूरता और कठोरता को भूल कर उनका विनीत दास बन जाता था। सीतादेवी अलौकिक सरलता और पवित्रता आदि गुणों के कारण जगज्जननी के समान प्रतीत होती थीं। उनके सामने महा-दुर्दान्त पापी का भी कठोर हृदय भयभीत होकर पीपल के पत्ते की तरह काँपने लगता था। बस यही उनके सौन्दर्य्य में प्रधान विशेषता थी और यही विशेषता उनके स्वाभाविक सौन्दर्य्य को सौगुना बढ़ा रही थी। यह माना कि रावण ने सीताजी के गुणकीर्तन को सुन कर ही उनका हरण करना निश्चित किया था, किन्तु सबसे पहले उनके हरण में वैरभाव का बदला लेना ही मुख्य कारण था। जिस समय रावण ने तपस्वी के वेश में पहले पहल सीतादेवी के अलौकिक रूपलावण्य का दर्शन किया था उसी समय उसके हृदय में उनके सौन्दर्य्य की धाक बैठ गई थी। रावण के मन्दिर मे कितनी ही रमणियाँ थीं, परन्तु सीतादेवी के सौन्दर्य्य की तुलना कोई भी नहीं कर सकती थी। यद्यपि पापी रावण कदाचित् सीतादेवी के दर्शन करते ही तदासक्त हो गया था, तथापि वह प्रबल दुराचारी होने पर भी सीतादेवी के सामने आकर मारे भय के थरथर काँपने लगता था।

यहाँ पर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि सीतादेवी तो एक अबला नारी थीं; उनको देख कर महाप्रतापी और दिग्विजयी रावण का साहसिक हृदय भयभीत होकर क्यों काँपने लगा? इसका समा-धान सुनिए।

वास्तव में अबला सीतादेवी को देख कर रावण तनिक भी भय-

भीत नहीं हुआ था। यदि वह भयभीत हो जाता तो उनको बलात् कैसे चुरा लाता ? किन्तु रावण के हृदय में तो उस समय भय उत्पन्न हुआ था कि जिस समय उसने सीतादेवी की अलौकिक पवित्रता और तेजःपुञ्ज मुखमण्डल का निरीक्षण किया था। रावण का पापी हृदय सीतादेवी के पुण्यमय तेजःपुञ्ज मुखमण्डल को देख कर संकुचित हो गया। असाधुता ने साधुता के सामने अपनी हार मानली; पाशव बल धार्मिक बल के सामने निर्वीर्य हो गया। राक्षसी माया ने दैवी शक्ति के आगे सिर झुका दिया। किन्तु इस जड़ जगत् का ऐसा अटल नियम है कि प्रबल पाशव शक्ति भी निर्बल दैवी शक्ति पर अपना आधिपत्य जमा लेती है। तदनुसार रावण ने अबला सीतादेवी को चुरा लिया। सीतादेवी को रावण ने चुरा अवश्य लिया, परन्तु क्या पाप पुण्य के ऊपर जयलाभ कर सकता है ? क्या धर्म ने अधर्म के सामने अपना पराभव मान लिया ? क्या दैवी विभूति राक्षसी माया से हर गई ? कदापि नहीं। रावण ने सीतादेवी को लंका में लाकर कितने ही प्रलोभन दिये, कितने ही भय दिखलाये; किन्तु असहाया और अबला सीतादेवी ने, शत्रु की पुरी में ही, महाबली रावण को ऐसा तिरस्कृत किया, ऐसा फटकारा कि उसका सारा अभिमान मिट्टी में मिल गया। इन्होंने क्रोध में लाल नेत्र करके कुपित सिंहिनी की तरह गर्ज कर कहा:—

> "इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा घातयस्व वा।
> नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस ! ॥
> न तु शक्यमपक्रोशं पृथिव्यां दातुमात्मनः।"

(वा० रा०, काण्ड ३, सर्ग ५६)

"हे राक्षस, यह शरीर निःसंज्ञ है, जड़ है। तू इसे चाहे बाँध, चाहे मार। मैं अब इस शरीर और प्राण की रक्षा न करूँगी और जगत् में असती कहला कर निन्दा भी न कराऊँगी।"

पाठक-पाठिकागण, देखा आपने, पुण्यतेज के सामने पाप तनिक भी नहीं ठहर सका। पुण्य-पवन ने पाप-तूल को अनायास ही उड़ा दिया।

पापी रावण सीताजी को बलात् लंकापुरी में ले आया सही, किन्तु उसकी पापवासना-रूपिणी कुमुदिनी सीतादेवी के पुण्यप्रभाकर के सामने संकुचित हो गई। रावण ने, यह समझ कर कि साधारण स्त्रियाँ धन, रत्न आदि किसी भी वस्तु के देने से स्वाधीन हो जाती हैं, सीतादेवी को भी अनेक धन-रत्नों के देने का प्रलोभन दिया, किन्तु सीतादेवी के मन का प्रलोभित होना तो दूर रहा, वह उलटा और भीषण भाव धारण करने लगा। सीतादेवी का ऐसा भाव देख कर रावण ऐसा क्षुभित हुआ कि जैसा क्षुधार्त सिंह क्षुभित होता है। उस दिन तक रावण सैकड़ों स्त्रियों को अपने वश में कर चुका था, किन्तु सीतादेवी के समान किसी ने प्रतिकूलता नहीं दिखाई थी। सीतादेवी के ऐसे पवित्र और अनुपम मनोभाव को देख कर दुष्ट रावण की समझ में आया कि रामपत्नी साधारण नारी नहीं हैं; किन्तु वे सिंहिनी के समान तेजस्विनी और एकान्तपतिपरायणा हैं। इसलिए उनको वश में करना किसी के भी लिए साध्य नहीं है। परन्तु तो भी रावण को आशा बनी हुई थी कि छल से, चतुराई से या कुछ दिन तक रहने सहने से सीतादेवी वश में हो जायँगी।

अब यहाँ शङ्का हो सकती है कि राक्षस रावण कामान्ध तो था ही, तो फिर उसने अबला सीता को बलात् अपने वश में क्यों नहीं कर लिया? क्या वह ऐसा नहीं कर सकता था?

इसमें सन्देह नहीं कि बलवान् निर्बल को दबा सकता है; परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पाशविक बल कभी धर्मबल को नहीं दबा सकता। इस बात के सिद्ध करने के लिए एक नहीं अनेक उदा-

हरण दिये जा सकते हैं। विशेष कर भारतवर्ष में तो ऐसे कितने ही उदाहरण स्त्रियों और बालकों तक में पाये जाते हैं। ग्रन्थ-विस्तार के भय से हम यहाँ ऐसे उदाहरण नहीं दे सकते। जिन्होंने रामायण और महाभारत को पढ़ा है, जिन्होंने दशरथ, हरिश्चन्द्र, मयूरध्वज, ययाति, नहुष आदि धर्मवीर पुरुषों का जीवनवृत्तान्त पढ़ा है वे अच्छी तरह समझ सकते हैं कि धर्मबल के सामने बड़े बड़े दुर्दान्त राजाओं तक का गर्व चूर्ण हो गया है। जिन्होंने रानी दुर्गावती, तारा बाई, पद्मावती और ११ वर्ष के हक़ीक़तराय तथा गुरुगोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों का वृत्तान्त पढ़ा है उनको अच्छी तरह विदित हो गया होगा कि धर्मबल के सामने बड़े बड़े पापी चक्रवर्तियों तक के पाशविक बल की कोई हक़ीक़त नहीं है। प्रतापी से प्रतापी और दुर्दान्त से दुर्दान्त पापी राजा असहाय धर्मवीर का एक बाल भी बाँका नहीं कर सकते। धर्मवीर के सामने पहुँचते ही बड़े बड़े कठोर जल्लादों के हाथ से तलवार नीचे गिर पड़ती है; उनका शरीर काँपने लगता है और उनको हार माननी पड़ती है। यह माना कि कभी कभी दुर्बल मनुष्य प्रबल पापियों के घोर अत्याचार से पीड़ित होते हैं और उनका क्षणभंगुर पांचभौतिक शरीर छिन्न भिन्न किया जाता है; किन्तु पुण्यात्मा और धर्मवीर मनुष्य को कभी किसी ने सहसा पराजित किया हो—ऐसा बहुत कम देखने में आता है। बहुत कम क्या, हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि संसार में कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि जो सच्चे धर्मवीर को विचलित कर सके। तेजस्वी और धर्मवीर मनुष्य अपने विश्वास और धर्म की रक्षा के लिए इस अनित्य संसार, यहाँ तक कि जीवन, को भी तुच्छ समझते हैं। धर्मवीर मनुष्य अपने प्राणप्रिय धर्म की रक्षा के लिए हँसते हँसते मृत्युशय्या पर लेट जाते हैं और सारे संसार को यह प्रत्यक्ष दिखा देते हैं कि धर्म के सामने संसार की

सारी शक्तियाँ कुछ भी नहीं कर सकतीं। धर्म की रक्षा के लिए धर्मवीर मनुष्य घातक के सामने प्रसन्नता से सिर झुका देता है। धर्मवीर मनुष्य धर्म के सामने धन, रत्न, राज्य आदि किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता। धर्मवीर पुरुष का एक मात्र धर्म ही परम आश्रय होता है। धर्म के नष्ट होने पर फिर धर्मवीर संसार में एक क्षण भी जीवन धारण नहीं करता। धर्म के विना वह अपना जीवन निष्प्रयोजन समझता है।

रावण की पाशविक शक्ति धर्मप्राणा सती सीतादेवी की धर्मशक्ति के सामने कुण्ठित हो गई। इसी लिए इच्छा होने पर भी मारे भय के उसने सीताजी के ऊपर बल का प्रयोग नहीं किया। जब जब रावण नाना प्रकार के प्रलोभन देने और भय दिखाने के लिए उनके समीप आता था तब तब वे अपने और रावण के बीच में एक तृण खड़ा कर देती थीं। दुष्ट रावण की शक्ति नहीं थी और उसको साहस नहीं होता था कि वह उस तृण को उल्लङ्घन कर जाय। इसका क्या कारण था? कारण मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोवधीत्॥"

अर्थात् "जो मनुष्य अपने धर्म की रक्षा करता है उसकी रक्षा स्वयं धर्म करता है और जो धर्म को मार डालता है उसको धर्म भी मार डालता है। इस लिए अपनी रक्षा के लिए मनुष्य को कभी धर्म पर आघात नहीं पहुँचने देना चाहिए।"

इसी आर्ष वचन के अनुसार सीताजी ने जिस धर्म की रक्षा के लिए अपने जीवन तक की पर्वा न की, जिस पातिव्रत धर्म के लिए उन्होंने अपने प्राण तक न्यौछावर कर देने का दृढ़ संकल्प कर दिया,

भला क्या वह धर्म सीताजी की रक्षा न करता ? यह सीतादेवी के धर्म का ही प्रताप था कि जो रावण ने उनके तिनके तक को नहीं छुआ।

जब रावण अपनी सब प्रकार की माया करके थक गया और अपने दुर्भाव की पूर्ति में सफलमनोरथ न हुआ तब उसकी समझ में आया कि सीतादेवी बड़ी तपस्विनी है। इसकी प्रकृति सामान्य नारियों के समान नहीं है। उसको निश्चय हो गया कि यदि सीता का धर्म बिगाड़ा जायगा तो धर्म के नष्ट होने से पहले ही यह आत्मघात करके मर जायगी। कारण यह कि सीताजी धर्म के लिए प्राण देने को सर्वदा तैयार थीं। पापी रावण सीतादेवी को अपनी राजमहिषी बनाना चाहता था और उनके मर जाने पर उसकी वह इच्छा कभी पूरी हो नहीं सकती थी। इसी लिए बुद्धिमान् रावण ने जैसे तैसे अपने मनोवेग को रोक कर सीतादेवी को एक वर्ष की अवधि दी थी। उसने आज्ञा देदी थी कि यदि सीता एक वर्ष के भीतर मेरी इच्छा पूर्ण न करे तो इसका मांस मेरे प्रातःकालीन भोजन में काट काट कर पका दिया जाय।

क्या सीतादेवी को एक वर्ष का अवकाश देने में भी कोई गुप्त रहस्य था ? हाँ, अवश्य था; सुनिए।

रावण ने सोचा था कि अभी सीता को अपने पतिका स्मरण बना हुआ है और अभी इसको यह भी आशा है कि कदाचित् मैं फिर उनके पास चली जाऊँ या वे मुझको स्वयं ले जावें। परन्तु कुछ दिन बाद यहाँ रहने, बार बार समझाने, राम का स्मरण कम हो जाने और राक्षसियों के द्वारा भयभीत होने आदि कारणों से यह निराश हो ही जायगी और ऐसी दशा में इच्छा न होने पर भी यह हमारे वश में अवश्य हो जायगी। रावण ने कितनी ही स्त्रियाँ इसी प्रकार कुछ समय रख रख कर अपने वश में कर ली थीं। इसी अनुभव और इसी आशा से रावण ने सीताजी को भी एक वर्ष का समय दिया था।

परन्तु उसको यह नहीं विदित हुआ कि अब की बार ऐसी देवी से पल्ला पड़ा है कि वह कभी ऐसी कुवासनाओं को सफल न होने देगी। रावण की इस एक वर्ष की अवधि की चाल के समझने में सीतादेवी को अधिक कष्ट न उठाना पड़ा। वे बड़ी बुद्धिमती थीं। उन्होंने इसका आशय तुरन्त समझ लिया। परन्तु दुष्ट रावण ने महात्मा रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी को अभी तक नहीं पहचाना।

रावण की आज्ञा से सीतादेवी अशोकवाटिका में पहुँचाई गईं। उनकी रक्षा में रावण ने कई राक्षसियां नियुक्त कर दीं, जो रात दिन उनके समीप रहती थीं। उन राक्षसियों ने रावण की आज्ञा से सीताजी को बहुत समझाया, नाना प्रकार के प्रलोभन दिये, तरह तरह के भय दिलाये; परन्तु उन दुष्टाओं की दुष्ट भावनायें किसी प्रकार भी फलवती न हुईं।

सज्जन पुरुष अपने वचनों से कभी नहीं फिरते। वे जो कहते हैं वही करते हैं। सीताजी के साथ रावण ने जो प्रतिज्ञा की उसको उसका पालन करना उचित था। एक वर्ष की अवधि के भीतर उसको कुछ नहीं कहना चाहिए था। परन्तु दुष्ट रावण इस धर्मनीति की बात को क्या समझता। वह तो एक दुर्नीति-परायण था। उसने तो यह अवधि हो स्वार्थसिद्धि के लिए नियत की थी। वह तो सीता-देवी की रूपाग्नि-शिखा पर पतङ्गरूप से मोहित हो चुका था। उसको रातदिन सीताजी की ही चिन्ता बनी रहती थी। ऐसी दशा में यदि रावण जैसा पापी अवधि से पहले ही अपनी पापकामना पूरी करने पर उद्यत हो जाय तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। रावण इसी दुष्टनीति के अनुसार बीच बीच में सीतादेवी को सताने के लिए अशोकवाटिका में जाया करता था। जब जब वह आता था तब तब सीतादेवी को अपार क्लेश होता था। रावण के अनेक भय दिखलाने

पर भी सीतादेवी अपने धर्म से तिलमात्र भी विचलित नहीं हुई। वे बराबर रावण को क्रोधयुक्त वाक्यों से तिरस्कृत करती रहीं। यद्यपि सीताजी के कठोर वाक्यों को सुन कर रावण को भी क्रोध आजाता था, तथापि उसका चित्त सीताजी में ऐसा आसक्त था कि उसका क्रोध शीघ्र ही उतर जाता था।

अशोकवाटिका में भी सीतादेवी को इतना शोक था कि जिस का वर्णन नहीं हो सकता। सीताजी रातदिन पतिदेव के ही ध्यान में मग्न रहती थीं। उनको न दिन में भोजन अच्छा लगता था, न रात्रि में निद्रा आती थी। उनकी दशा बड़ी ही दयनीय थी। स्वामी के विरह में उनका शरीर इतना शुष्क हो गया था कि केवल अस्थि-पंजर मात्र दिखाई देता था। वे सोचा करती थीं कि "हाय! क्या मुझे अब कभी प्राणनाथ के दर्शन होंगे? हा! क्या स्वामी अभी तक जीवित होंगे? मालूम होता है, उन्होंने मेरे शोक में कभी के प्राण त्याग दिये होंगे? ज्येष्ठ भ्राता के शोक में लक्ष्मण भी जीवित न होंगे? हाय! जब मेरे प्राणेश्वर ही नहीं रहे तब मेरे जीने से क्या प्रयोजन? जिस पतिदेव के बिना मुझे सारा संसार शून्य दिखाई देता है, यदि वही प्राणनाथ मेरे वियोग में प्राण त्याग चुके तो फिर मेरा यहाँ क्या काम? हाय! मेरा हृदय भी बड़ा कठोर है जो अभी तक फटा नहीं। अवश्य मैंने पूर्वजन्म में कोई भारी पाप किया होगा जिसका यह बुरा फल मुझको भोगना पड़ा। क्या कौशल्यानन्दन को अभी तक मेरी सुध नहीं मिली? क्या उनको मेरी दुरवस्था का अभी तक पता नहीं लगा? मेरे स्वामी महावीर हैं। मेरी सुधि पाते ही, शत्रु का पता लगते ही वे उसको समूल नष्ट कर डालेंगे। मैं राजर्षि जनक की पुत्री हूँ, महाराज दशरथ की पुत्रवधू हूँ और धर्मधुरन्धर महावीर की धर्मपत्नी हूँ, हाय! क्या मेरे भाग्य में यही दुःख भोगना लिखा था? हाय! मैं

अशोकवाटिका में पति-विरहिणी सीता।

जागती हूँ या सोती हूँ ? मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ ? मेरी बुद्धि तो नहीं मारी गई ? मैं मर गई या जीवित हूँ ? हाय ! मैं इस समय कहाँ हूँ ? मेरे स्वामी मुझसे कितनी दूर हैं ? हाय ! मुझे यहाँ कौन ले आया ? हाय ! रावण ने मुझे अभी तक मेरे स्वामी के समीप क्यों नहीं पहुँचाया ? हाय ! मैंने रावण का क्या अपराध किया था ? अब मेरे जीने से कुछ लाभ नहीं। हाय ! इस समय मृत्यु भी नहीं आता। तो क्या अब मुझे आत्महत्या करनी पड़ेगी ? हाय ! आत्महत्या करने में तो भारी पाप है। हो, चाहे कितना ही भारी पाप क्यों न हो, सतीत्व नष्ट करने से तो आत्महत्या फिर भी अच्छी है ! हाय ! यहाँ तो आत्म-हत्या का भी अवकाश नहीं। ये दुष्टा राक्षसियां सर्वदा मेरी रक्षा में रहती हैं। हाय ! मेरे लिए मरने का भी अवकाश नहीं। मेरे समान कोई हतभागिनी नहीं। हा विधाता ! तू क्या कर रहा है ?"

एक बार नहीं, सीतादेवी ने कई बार इसी प्रकार विलाप-परिताप किया। और जब अपने उद्धार की कोई आशा न देखी तब वे निराश होकर कभी रोने लगती थीं, कभी उन्मत्त सी होकर कुछ प्रलाप करने लगती थीं, और कभी अचेत होकर धरातल पर लोटने लगती थीं। हा सीते ! तुम्हारे दुःख का कुछ थोड़ा सा ही वर्णन करने सुनने से हमारा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। तुम्हारा हृदय अवश्य वज्र का होगा। नहीं तो ऐसा उत्कट दुःख वह कैसे सहन कर सकता था ? जनकनन्दिनी, तुमको धन्य है। धर्म के लिए तुम इतना भारी कष्ट सह कर भी विचलित नहीं हुईं। तुम्हें हमारा बार बार प्रणाम है। इसी धर्मप्रियता के कारण आज लाखों स्त्री-पुरुष तुम्हारा गुण-गान कर रहे हैं।

अब हनुमान्‌जी का वृत्तान्त सुनिए। सामुद्रिक यात्रा के अनेक झंझटों और नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं को सहते और अनेक

शत्रुओं को पददलित करते हुए हनुमान्‌जी लङ्का में जा पहुँचे। लङ्का की शोभा को देख कर हनुमान्‌जी बड़े चकित हुए। ईश्वर का स्मरण करके हनुमान्‌जी सीताजी के अन्वेषण के लिए लङ्का के भीतर घुस गये। वहाँ रावण के रनिवास में जाकर हनुमान्‌जी ने बहुत सी नारियाँ देखीं, परन्तु उनमें सीताजी का कहीं पता न लगा। उन्होंने छिपे छिपेही रावण के प्रायः सभी मन्दिर खोज डाले, पर जो लक्षण सीताजी के रामचन्द्रजी ने उनको बतला दिये थे वैसे शुभ लक्षण वहाँ किसी स्त्री में भी उनको दिखाई न दिये। अनेक स्थानों में अन्वेषण करने पर भी जब सीतादेवी का कहीं पता न चला, तब हनुमान्‌जी को बहुत दुःख हुआ। वे मन में कहने लगे कि "मैंने रावण के राज-मन्दिर में अनेक रानियाँ देखीं, पर उनमें एक भी ऐसी नहीं है कि जिसे मैं जानकी समझूँ। जानकीजी का कोई लक्षण किसी स्त्री में नहीं मिलता। तो क्या पतिव्रता सीताजी पति के विरह में परलोक को तो प्रयाण नहीं कर गईं?"

इसी प्रकार विलाप-परिताप करके हनुमान्‌जी के हृदय में नैराश्य बढ़ने लगा। वे निराश होकर मन में कहने लगे कि "क्या हमारी समुद्र-यात्रा का महाप्रयास व्यर्थ ही होगा? यदि सीताजी का पता न मिला तो मैं किस मुँह से वहाँ लौट कर जाऊँगा? यदि सीताजी का समाचार न मिला तो रामचन्द्रजी प्रियपत्नी के विरहाग्नि में अवश्य भस्म हो जायँगे। यदि रामचन्द्रजी न रहेंगे तो लक्ष्मण और सुग्रीव भी उन्हीं का अनुसरण करेंगे। तब मैं जीकर क्या करूँगा? इससे तो मेरा लङ्का में ही आत्मघात करके मर जाना अच्छा।"

हनुमान्‌जी इस प्रकार विलाप करही रहे थे कि इतने में सामने उनको एक गहन वन दिखाई दिया। उस उपवन का नाम अशोकवाटिका था। यद्यपि हनुमान्‌जी निराश हो चुके थे, तथापि अभी तक उन्होंने उद्योग

शिथिल नहीं किया था। वे फिर सीताजी की खोज के लिए उस वन में पहुँचे। समय रात्रि का था। वे चलते चलते एक वृक्ष पर जा चढे। वह वृक्ष शीशम का था। उस वृक्ष के घने पत्तों में छिपे छिपे हनुमान्जी ने देखा कि उसी वृक्ष के नीचे एक स्त्री बैठी थी। उसके चारो ओर कई राक्षसियाँ उसकी रक्षा में बैठी थीं। वह स्त्री बैठी हुई ऐसी प्रतीत होती थी कि मानो अपने प्रियतम स्वामी के विरह में व्यग्र हो। वह बैठी हुई बार बार दीर्घ निश्वास छोड़ रही थी और आंखों से आंसुओं की अविरल जलधारा बहा रही थी। उसका शरीर इतना कृश हो गया था कि अस्थिमात्र अवशिष्ट था। उसके शरीर पर न आभूषण थे, न सुन्दर वस्त्र। उसने केवल एक सारी ही पहन रक्खी थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी कि मानो किसी प्यारे की चिन्ता में मग्न हो।

वृक्ष पर चढ़ेही चढ़े यह विचार करने लगे कि सीताजी से बातचीत किस प्रकार करनी चाहिए। इसी विचार ही विचार में प्रायः सारी रात्रि व्यतीत हो गई। जब थोड़ी सी रात्रि शेष रही तब हनुमान्‌जी के कानों में स्त्रियों के पादभूषणों का मधुर शब्द सुनाई दिया। उत्तरोत्तर वह शब्द उनके समीप ही आता प्रतीत होता था। इतने में ही उन्होंने देखा कि राक्षसराज रावण अनेक रूपवती रमणियों के बीच में घिरा हुआ सीताजी के दर्शनार्थ आ रहा था। पापी रावण को दूर से ही देख कर सीताजी का हृदय भय से कांपने लगा। वे सिकुड़ कर हृदय पर हाथ रख कर और घुटनों मे सिर देकर बैठ गईं। उनके नेत्रों से आँसुओं की बूँदें टपकने लगीं। उन दिनों सीताजी के हृदय में रावण की मृत्युकामना ही जागृत हो रही थी। जैसे जैसे दुष्ट रावण सीताजी के समीप आता जाता था वैसेही वैसे वे और अधिक रोती जाती थीं। रावण को समीप ही आया देख कर सीतादेवी के नेत्र क्रोध के मारे अग्नि की तरह बलने लगे। वे बेचारी असहाया की तरह चारों ओर देखने लगीं; परन्तु कहीं कोई सहायक न दिखाई दिया।

सीताजी के समीप पहुँच कर रावण ने नाना प्रकार के प्रलोभन दिखाये, तरह तरह की बातें बनाईं और बहुत से मीठे मीठे वचन कहे। और यह भी कहा कि "हे जानकि, तुम मुझको देख कर इतनी संकुचित क्यों हो गईं? मैं तुमसे प्रणय की भिक्षा माँगता हूँ। तुमको मेरा सम्मान करना चाहिए। तुम्हारी इच्छा न देख कर मैं अभी तुम्हारे शरीर का स्पर्श नहीं करता। हे देवि, तुम विश्वास रक्खो, मैं तुमको कभी धोखा न दूँगा। तुम मुझसे बिलकुल न डरो। देखो तो, एक वेणी का धारण, धरातल पर शयन, उपवास और मलिन वस्त्र का धारण—क्या ये बातें तुम्हारे योग्य हैं? मैं देखता हूँ कि तुम रात दिन रामचन्द्र के ही ध्यान में, उसी की चिन्ता में, मग्न रहती हो। तुम

को अब उसकी चिन्ता बिलकुल न करनी चाहिए। अब तुम राम से मन हटा कर मेरा स्मरण करो, मुझको भजो। तुम अपनी अज्ञानता को दूर करो। मेरे अन्तःपुर में एक से एक उत्तम रूपवती नारी विद्यमान हैं। दो चार नहीं सैकड़ों नारियां मेरे राजमहल में उपस्थित हैं। तुम मेरी बात मान कर उन सब रानियों में मुख्य रानी बन जाओ। मैंने आजतक जितना धनरत्न संचय किया है वह सब मैं तुमको अर्पण करता हूँ। यही नहीं, किन्तु मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए अपना सारा राज्य तुम्हारे पिता के अर्पण कर सकता हूँ। तुम मेरी भार्या बन जाओ। तुम प्रसन्न होकर मुझको ग्रहण करो। संसार भर में ऐसा कोई भी माई का लाल नहीं जन्मा है जो किसी भी बात में मेरी समता कर सके। हे देवि, जिस राम का तुम ध्यान करती हो, जिस के स्मरण में तुम प्रतिदिन कृश होती जाती हो और जिसके वियोग में तुमने सभी सांसारिक सुखभोगों को छोड़ रक्खा है वह, धन में, ऐश्वर्य्य में, बल में, पराक्रम में और प्रतिष्ठा में भी मेरी समता कदापि नहीं कर सकता। इस लिए तुम मेरी वामाङ्गिनी बन कर इस धनरत्नपरिपूर्ण लङ्कापुरी की अधीश्वरी बन जाओ"।

दुरात्मा रावण की ऐसी दुःखदायिनी पापवाणी सुन कर सीतादेवी ऊँचे स्वर से रोने लगीं। वे एक तिनके को व्यवधान में रख उसकी ओर लक्ष्य करके कहने लगीं—"रे राक्षसराज, तू मेरी इच्छा मत कर। तू अपनी स्त्री में ही अनुरक्त रह। जैसे पापी पुरुष मुक्ति को नहीं प्राप्त कर सकता वैसे ही तू भी मुझको नहीं पा सकता।" इतना कहते ही कहते सीतादेवी के हृदय में क्रोधाग्नि धधक उठा। वे रावण की ओर से मुँह फेर कर कहने लगीं—"रे नीच, देख। मैं राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र की धर्मपत्नी हूँ। मैं पति की सहधर्मिणी और साध्वी हूँ। तू मुझको साधारण स्त्री मत समझ। धर्म को कल्याणकारी

समझ कर तू भी उसका अनुष्ठान कर। तू लङ्केश्वर होकर ऐसा पापाचारी है, इससे प्रतीत होता है कि यहाँ कोई भी सज्जन धर्मात्मा नहीं है। क्या लङ्का में एक भी ऐसा धर्मशील मनुष्य नहीं है जो इस पापाचरण से तेरा उद्धार करे। और यदि होगा भी तो मालूम होता है तू उनकी बात सुनता न होगा। जिस तरह सूर्य की प्रभा सूर्य से पृथक् नहीं हो सकती इसी तरह मैं भी रामचन्द्रजी के अतिरिक्त और किसी का आश्रय न लूँगी। मैं अपने धर्म के सामने तेरे धन और ऐश्वर्य्य को धूल के बराबर भी नहीं गिनती। यदि तू अपना और अपने राज्य का कुशल चाहता है तो मुझे मेरे स्वामी के समीप पहुँचा दे। यदि तुझको अपने प्राण प्यारे लगते हों, यदि तू अपने वंश की रक्षा चाहता हो, तो मेरे स्वामी के चरण-शरण में प्राप्त होकर उनके साथ मित्रता का सम्पादन कर। यदि तू मुझे उनके समीप पहुँचादे तो बस इसी में तेरा कल्याण है। नहीं तो तू अपने को काल के मुख में गया हुआ समझ। रामचन्द्रजी के सामने आने पर फिर तू किसी प्रकार भी नहीं बच सकता। देख, अभी कुछ दिन ठहर। तू जल्द ही यहाँ रामचन्द्रजी के महाधनुष की घोर टंकार को सुनेगा। अभी कुछ दिन पश्चात् तू देखेगा कि रामचन्द्रजी के विषगर्भ बाण सनसनाते हुए लङ्कापुरी में आकर तेरा विध्वंस कर डालेंगे। रे दुष्ट, जिस समय रामचन्द्रजी क्रोध में भर कर तेरे ऊपर बाण चलावेंगे उस समय चाहे तू कैलास पर जाना, चाहे पाताल में घुस जाना, पर कहीं भी तेरी रक्षा न होगी। तू उनके हाथ से अवश्य मारा जायगा।"

सीताजी के रोषपूर्ण वचनों को सुन कर पापी रावण को बहुत क्रोध आया। परन्तु वह ऐसा काममोहित था कि उसका क्रोध क्षण मात्र भी न ठहर सका। सीताजी ने उसको इतना फटकारा, इतना लज्जित किया, परन्तु उस निर्लज्ज को तनिक भी लज्जा न आई। किसी ने ठीक ही कहा है कि—

"कामातुराणां न भयं न लज्जा"

कामातुर को न किसी का भय होता है और न किसी की लज्जा होती है। वह फिर कहने लगा कि "देवि, यद्यपि तुम्हारे वाक्यबाण मेरे कलेजे में तीर की तरह आकर लगते हैं, तथापि मेरा चित्त तुममें इतना अधिक आसक्त हो रहा है कि तुम्हारे रोषपूर्ण कथन की मैं कुछ भी परवा नहीं करता। मैं तुम्हारा आदर करता हूँ, पर तुम मेरा बार बार निरादर ही करती जाती हो। यद्यपि तुम्हारे काम इस योग्य हैं कि तुम मार डाली जाओ, परन्तु क्या करूँ, मेरा मन ऐसा करने को उद्यत नहीं होता।"

रावण के कह चुकने पर उसकी स्त्रियों के सामने ही सीताजी ने उसका भारी तिरस्कार किया। रावण ने क्रोध में भर कर फिर कहा कि "देखो, मैंने तुमको एक वर्ष की अवधि दी थी। उसमें अब केवल दो महीने का समय शेष है।' इन दो महीनों के भीतर यदि तुम मेरी इच्छा पूर्ण न करोगी तो स्मरण रखना, मेरे रसोइये तुम्हारे शरीर को काट काट कर मेरे प्रातःकालीन भोजन में पका डालेंगे।"

जानकीजी बड़ी निडर थीं। वे रावण की गीदड़-भभकियों से कुछ भी न डरीं, तनिक भी विचलित न हुईं; उलटा वे और निर्भयता से उसी को फटकारने लगीं। अबकी बार उन्होंने उसको ऐसा फटकारा कि उसको वहाँ ठहरना भारी बन गया। रावण ने क्रोध में उन्मत्त होकर सीताजी के मारने के लिए तलवार म्यान से बाहर निकाल ली। वह दुष्ट कामान्ध रावण सीताजी पर प्रहार करना ही चाहता था कि इतने में उसकी किसी स्त्री ने आकर उसका हाथ पकड़ लिया। उस स्त्री का नाम धान्यमालिनी था। उसने अपने मधुर तथा प्रभावशाली वाक्यों से रावण को स्त्रीहत्यारूप घोर पाप कर्म करने से बचा दिया। सच पूछिए तो उस समय धान्यमालिनी ने बहुत बड़े

साहस और धर्म का काम किया । ऐसी ही स्त्रियाँ धन्य हैं जो अपनी विद्या, बुद्धि और युक्ति से अपने पति को अधर्ममार्ग से हटा कर सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करती हैं ।

धान्यमालिनी के समझाने से रावण सीताजी के मारने से विरत हो गया । उसने अपनी तलवार म्यान में रख ली । उस समय रावण को इतना अधिक क्रोध आ रहा था कि यदि धान्यमालिनी उसको न रोकती, न समझाती तो वह दुष्ट बेचारी सीतादेवी का सिर धड़ से अलग कर ही डालता । धान्यमालिनी आदि स्त्रियाँ उस समय रावण को वहाँ से अलग हटा कर ले गईं । रावण के चले जाने पर भी सीताजी को सुखचैन न मिला । उसके चले जाने पर राक्षसियाँ उनको बहुत सताने लगीं । उन दुष्टाओं ने भी जानकीजी को बहुत समझाया, डराया, धमकाया और प्रलोभन दिया, परन्तु धर्मतत्परा सीतादेवी ने उनकी एक न सुनी । उन राक्षसियों के सामने भी सीताजी ने रावण को खूब सुनाईं और उसका खूब तिरस्कार किया । सीताजी अपने धर्म की रक्षा में ऐसी दृढ़ थीं कि उनको किसी बात का भय न था । उन्होंने उन राक्षसियों को भी खूब आड़े हाथों लिया । कई राक्षसियाँ क्रुद्ध होकर रावण के पास उनकी बुराई करने चली गईं और कई एक वहीं उनकी रक्षा में रहीं ।

तदनन्तर सीतादेवी शोक में व्याकुल होकर रुदन करने लगीं । वे शीशम की एक पुष्पित शाखा को पकड़ कर खड़ी हो गईं और अपनी दुर्दशा की चिन्ता करने लगीं । वे कहने लगीं—"हाय ! अब केवल दो मास का समय शेष है । दो महीने के अनन्तर दुष्ट रावण मुझको अवश्य मरवा डालेगा । हाय ! पापी रावण मुझको नाना प्रकार के भय दिखलाता है, कुवाच्य कहता है । मेरा जीवन महाकष्टमय हो रहा है । क्या कौशल्यानन्दन को अभी तक मेरी सुध नहीं मिली ? या

उन्होंने मुझको अपने हृदयराज्य से बहिर्भूत तो नहीं कर दिया ? बस अब मेरे उद्धार की कोई आशा नहीं। हाय ! मैं महाबली पुरुषसिंह की धर्मपत्नी होकर इतना क्लेश उठा रही हूँ ! मैं स्वामी के एक मात्र दर्शन की लालसा से ही अब तक दुःख भोग कर जीती रही; परन्तु अब वह आशा सर्वथा दूर होगई। मालूम होता है, अब मेरा अन्तकाल समीप आगया। अब मैं जीवित रहना नहीं चाहती। जब प्राणाधार के मिलने की कोई आशा नहीं तब मेरे जीवन से लाभ ही क्या। अमूल्य सतीत्वरत्न नष्ट होने से तो मृत्यु सौ गुनी अच्छी है। राक्षस के हाथ से मरने से तो आत्महत्या करके मरना कहीं अच्छा है। यद्यपि आत्महत्या करना घोर पाप-कर्म है तथापि सतीत्व नष्ट होने से तो आत्महत्या ही श्रेयस्कर है। बस, अब मैं अवश्य आत्मघात करूँगी। इस समय मुझको इन क्लेशों का तनिक भी दुःख नहीं, यदि मुझे कुछ दुःख है तो यही कि मरते समय एक बार भी स्वामी के चरणयुगल का दर्शन न हुआ। जिनके लिए मैं इतने कष्ट सह कर भी प्राण धारण करती रही, हाय ! आज मरण-समय में उनका एक बार भी दर्शन मैं नहीं कर सकी ! हा नाथ ! आप कहाँ हैं ? इस समय आपकी प्राणप्रिया इस संसार को छोड़ कर परलोक को जा रही है। हे विधातः ! मैंने इतने पाप किये हैं कि जो मृत्युसमय भी मैं अपने स्वामी के चरणों का दर्शन न कर सकी। हाय ! मेरे समान संसार में और कोई हतभागिनी नहीं। मेरा प्रारब्ध बड़ा ही मन्द है।"

सीताजी इसी प्रकार रो रो कर विलाप करती हुई आत्महत्या का विचार करने लगीं। उन्होंने बहुत कुछ सोचा, परन्तु आत्महत्या करने का कोई सहज उपाय उनको न दिखाई दिया। मृत्यु का कोई साधन न पाकर सीताजी मन में कहने लगीं—"हाय ! मेरी मृत्यु के लिए यहाँ रस्सी का एक छोटा सा टुकड़ा भी नहीं मिलता !" परन्तु

थोड़ी ही देर में उनका मन प्रसन्न हो गया। उनको याद आगया और वे कहने लगीं कि "क्या हुआ, यदि मुझको तनिक सी रस्सी भी नहीं मिलती तो कुछ हर्ज नहीं। यह पीठ पर पड़ी हुई वेणी ही इस समय फांसी का काम देगी। मैंने पातिव्रत धर्म की रक्षार्थ ही एक वेणी धारण की थी। इसलिए यही अब मेरे धर्म की रक्षा करेगी। बस, अब इसी वेणी के द्वारा मैं अपने प्राण-विसर्जन करके धर्म की रक्षा करूँगी।" यही सोच कर सीतादेवी शीशम की एक शाखा को पकड़ कर शोक में विह्वल हो रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी तथा अन्यान्य आत्मीय जनों का स्मरण करके आत्महत्या करने का सुअवसर देखने लगीं।

जिस शीशम के वृक्ष की शाखा को पकड़ कर सीतादेवी आत्महत्या करने का सुयोग देख रही थीं उसी वृक्ष पर महावीर हनुमान्‌जी छिपे हुए बैठे थे। उन्होंने छिपे ही छिपे रावण का आना और सीताजी का विलाप तथा मरने की तैयारी करने का सारा वृत्तान्त अपनी आँखों देख लिया। सीताजी को आत्महत्या करने पर उद्यत देख कर उनके मन में भारी चिन्ता उत्पन्न हुई। उन्होंने मन में कहा कि यदि सीताजी आत्मप्राणविसर्जन कर लेंगी तो मेरा समुद्र के पार इतनी दूर यहाँ आना सब व्यर्थ हो जायगा। अब जल्द ही इनसे वार्तालाप करना चाहिए। परन्तु हनुमान्‌जी के मन में एक और चिन्ता उठ खड़ी हुई। वे सोचने लगे कि यदि सीतादेवी मुझको भी रावण का ही दूत समझ बैठें और मुझसे कुछ भी बात-चीत न करें तो भी अच्छी बात नहीं है। बहुत देर सोचविचार करने के पश्चात् हनुमान्‌जी ने सीताजी के साथ संस्कृत-भाषा में बात-चीत करना निश्चित किया। यही विचार कर हनुमान्‌जी सीताजी के समीप की शाखा पर उतर आये। उन्होंने सीताजी और रामचन्द्रजी की सब पुरानी कथा कह सुनाई। और, यह भी कह दिया कि "जब रावण सीताजी को हर

लाया था तब रामचन्द्रजी उनको ढूँढ़ते फिरते थे। इसी तरह फिरते फिरते सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता होगई। उन्होंने बाली को एकही बाण से मार कर सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बना दिया। उन्हीं, तथा राजा सुग्रीव, की आज्ञा से हम सीताजी के ढूँढ़ने के लिए यहाँ आये हैं। बड़े आनन्द की बात है कि जो हमने लंका में सीताजी को जीती जागती पाया।"

आत्महत्या करने के लिए तैयार खड़ी हुई सीताजी एकदम रामचन्द्रजी का यह समाचार सुन कर चौंक पड़ीं। उन्होंने ऊपर को मुँह उठा कर देखा तो सामने की शाखा पर हनुमान्‌जी को बैठे पाया। उनको देखते ही वे संकुचित हो गईं। वे, मन में यह सोच कर, कि कहीं यह दुष्ट रावण का ही भेजा हुआ कोई राक्षस न हो, बहुत भयभीत हुईं। जब हनुमान्‌जी ने सीताजी को भयभीत देखा और यह समझा कि इन्हों ने रावण के डर से मेरी ओर से मुँह फेर लिया, तब वे उस शाखा से नीचे उतर आये। उन्होंने उतर कर सीताजी के चरणों में प्रणाम किया और कहा कि माताजी! आप मेरे विषय में कुछ सन्देह न करें। मैं राजा सुग्रीव और महावीर रामचन्द्रजी का दूत हूँ और उन्हीं की आज्ञा से आपके ढूँढ़ने के लिए यहाँ आया हूँ।

इसी प्रकार सीताजी के हृदय में विश्वास उत्पन्न कराने के लिए हनुमान्‌जी ने सीताहरण से लेकर अपने समुद्र-लङ्घन तक का सारा वृत्तान्त ब्योरेवार सुना दिया। यही नहीं, किन्तु उन्होंने रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के शारीरिक चिह्न और आकार-प्रकार सभी बतला दिये। तब इतना कहने पर बहुत देर पश्चात् सीताजी को विश्वास आया। रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के कुशलसमाचार सुन कर सीताजी के हृदय में जितना आनन्द हुआ वह वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने मन में स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि

ऐसी दशा में प्रियतम के कुशलसमाचार मिलने पर कितना आनन्द प्राप्त होता है।

तदनन्तर सीतादेवी ने अपने स्वामी और देवर के विषय में हनुमान्‌जी से बहुत सी बातें पूछीं। कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् उन्होंने अपने क्लेशों की हृदयविदारक आत्मकहानी सुना कर कहा कि "मेरे स्वामीजी ने इतने दिन तक मेरी सुध क्यों नहीं ली? अब मेरी मृत्यु में केवल दो मास का समय शेष है। यदि दो मास के भीतर मैं अपने स्वामी के पास न पहुँच सकी तो अवधि के समाप्त होते ही अवश्य मैं जीवित न रह सकूँगी।" इस प्रकार कहते कहते सीताजी के नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई। सीताजी को बहुत विकल देख कर हनुमान्‌जी ने उनको समझाया और कह दिया कि श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव की सहायता से युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। वे आपका समाचार पाते ही यहाँ आकर रावण को मार कर आपको ले जायँगे। तदनन्तर हनुमान्‌जी ने रामचन्द्रजी की दी हुई एक सुवर्ण की अँगूठी सीताजी को दी और कहा कि यह आभूषण उन्होंने आपके विश्वास के लिए दिया है। अँगूठी पर 'राम' नाम खुदा हुआ था। उसे पहचान कर सीताजी को अपार हर्ष हुआ। वे बार बार उस अँगूठी को देखने लगीं।

सीताजी को भारी दुःख में देख कर हनुमानजी ने उनको अपनी पीठ पर चढ़ा कर ले जाने की इच्छा प्रकट की। परन्तु हनुमान्‌जी के इस प्रस्ताव से सीतादेवी सहमत न हुईं। सहमत न होने के कई कारण थे। पहले तो यह कि वे भीरुस्वभावा थीं। उन्हें डर था कि कहीं समुद्र की लंबी यात्रा में पीठ से नीचे खिसक कर समुद्र मे न जा गिरूँ। दूसरे यह कि कदाचित् उनका ले जाना देख कर राक्षस लोग हनुमान्‌जी का पीछा करें और मार्ग में ही युद्ध ठन जाय तो बड़ी गड़बड़

होगी । उस समय हनुमान्‌जी राक्षसों से युद्ध करेंगे या उन्हें सँभा-लेंगे । यदि उस युद्ध में राक्षसों की जीत हुई और वे फिर दुष्टों के फंदे में फँस गईं तो भारी अनर्थ हो जायगा । तीसरे सब से बड़ी बात यह थी कि सीताजी पतिव्रता नारी थीं । वे परपुरुष के शरीर का स्पर्श करना अनुचित समझती थीं । यहाँ कोई यह शङ्का कर सकता है कि जब रावण उनको हर लाया था तब भी तो उसके शरीर का स्पर्श हुआ था । तब पतिव्रत धर्म की यह छूतछात कहाँ गई थी ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि उस समय सीताजी परवश थीं, उस समय उनका क्या वश चल सकता था । आपत्काल में सभी धर्म-मर्यादायें शिथिल पड़ जाती हैं । इनके अतिरिक्त एक चौथा कारण और भी था । वह भी बड़ा आवश्यक था । वह यह कि यदि हनुमान्‌जी ही सीताजी को ले जाकर रामचन्द्रजी को सौंप देते तो एक तो रावण को कुछ दण्ड न मिलता और दूसरे इसमें रामचन्द्रजी की शूरवीरता क्या प्रकट होती । सदा के लिए लोग यही कहा करते कि इनसे अपनी स्त्री भी न छुड़ाई गई । सब लोग उन्हें कायर ही समझते । इस प्रकार जब सीताजी ने अपनी असम्मति के कई कारण बतलाये तब हनुमान्‌जी ने उनके धार्मिक भाव की शुद्धता और दूरदर्शिता को सोच कर उनकी बड़ी प्रशंसा की । उन्होंने मन में कहा—"हे सीते, आपको धन्य है । सचमुच आप ही रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी बनने के योग्य हैं ।"

तदनन्तर सीतादेवी को बहुत कुछ समझाने के पश्चात् हनुमान्‌जी ने रामचन्द्रजी के समीप जाने की इच्छा प्रकट करके उनसे विदा माँगी । उन्होंने रामचन्द्रजी के विश्वास के लिए उनसे भी कुछ स्मारक-चिह्न माँगा । सीताजी ने बड़ी प्रसन्नता से उनको विदा दी और अपने अंग से उतार कर एक चूडामणि देकर कहा कि "इसको देख कर वे मुझको, मेरे पिता को और राजा दशरथ को अवश्य

याद करेंगे।" उस चूड़ामणि को ले और विदा ग्रहण कर हनुमान्जी ने सीताजी को बार बार प्रणाम करके वहां से प्रस्थान किया।

सीताजी से विदा हो और चूडामणि लेकर हनुमान्जी ने सोचा कि यहां इतनी दूर सीताजी को तो देख लिया, परन्तु अभी तक रावण के बल का पूरा परिचय नहीं मिला। यह सोच कर हनुमान्जी किसी प्रकार रावण के बल का परिचय प्राप्त करने का विचार करने लगे। कुछ देर सोचविचार करने के पश्चात् उन्होंने रावण की पुष्पवाटिका का विध्वंस करना आरम्भ कर दिया। हनुमान्जी महाबली तो थे ही वे निर्भय होकर उपवन का विध्वंस करने लगे। वाटिका को विध्वस्त देख कर रखवालों ने उन्हें रोका, परन्तु हनुमान्जी ने उन को भी खूब पीटा। रखवाले दौड़ कर रावण के पास गये। रावण ने अपनी प्रियवाटिका की दुर्गति का समाचार सुन कर हनुमान्जी के पकड़ने को कई शूरवीर भेजे। परन्तु हनुमान्जी ने उनको वहीं मार गिराया। रावण ने फिर कुछ शूरवीर भेजे। हनुमान्जी ने फिर उनको भी यमालय को भेज दिया। तदनन्तर क्रुद्ध होकर रावण ने कुमार अक्ष को भेजा और उसके साथ बहुत सी सेना भी उसकी रक्षा के लिए भेजी। कुमार अक्ष सेना को लेकर हनुमान्जी के समीप पहुँचा। हनुमान्जी भी उसको देख कर निडर होकर गर्जने लगे। बड़ा घोर युद्ध हुआ। थोड़ी सी ही देर मे महाबली हनुमान्जी ने अक्ष की सारी सेना मार गिराई और अन्त मे अक्ष को भी वहीं ठंडा कर दिया। अक्ष के मरने का समाचार सुन कर रावण को बड़ा दु:ख हुआ और इतना क्रोध आया कि उसके नेत्र अग्नि के समान जलने लगे। अब की बार उसने अपने पुत्र मेघनाद को बुला कर उसको हनुमान्जी के पकड़ लाने की आज्ञा दी। मेघनाद बड़ा बलवान् था। वह पिता की आज्ञा को सुन कर अस्त्र-शस्त्र लेकर हनुमान्जी के पकड़ने को चल

दिया । उसने जाते ही हनुमान्‌जी को ब्रह्मपाश में फांस लिया । यद्यपि हनुमान्‌जी उस फांसी से निकल कर बच सकते थे तथापि उन्होंने रावण के दर्बार के देखने की इच्छा से उससे निकलने की इच्छा या उद्योग कुछ न किया । वे उसमें फँस गये । महाबली मेघनाद उनको रावण के समीप ले चला । मार्ग में राक्षसों ने बँधे हुए हनुमान्‌जी को बहुत मारा-पीटा । परन्तु अपने स्वामी के काम बनाने के लिए वे राक्षसों की मार को हर्षपूर्वक सहते रहे ।

इस प्रकार जब हनुमान्‌जी रावण के दर्बार में पहुँचे तब उनको देख कर पहले तो रावण ने उनके मारने की आज्ञा दी, परन्तु फिर अपने भाई विभीषण के समझाने से मारने की आज्ञा बंद कर दी । रावण के साथ बात चीत करके हनुमान्‌जी ने उसकी बहुत सी बातें मालूम कर लीं । शत्रु के सब भेदों को जान कर हनुमान्‌जी फिर एक बार सीताजी के दर्शन करने के लिए अशोकवाटिका में पहुँचे । फिर सीताजी का दर्शन करके उन्होंने वहाँ से प्रस्थान किया ।

समुद्र के उत्तरी तट पर बैठे हुए अङ्गद आदि ने दूर से ही हनुमान्‌जी की गर्जना सुनी । सुन कर उनकी वाणी को पहचानते ही सब लोग आनन्द से हाथों उछलने लगे । इतने ही में हनुमान्‌जी उनसे आ मिले ।

हनुमान्‌जी के मुख से सीताजी का आनन्द-समाचार सुन कर सबको असीम आनन्द हुआ । वहाँ से हनुमान्‌जी को आगे करके सब लोग रामचन्द्रजी के समीप जा पहुँचे । वहाँ पहुँचते ही बुद्धिमान् हनुमान्‌जी ने सीताजी के कुशल-समाचार और समुद्र-यात्रा से लेकर लङ्कादाह तक का समस्त वृत्तान्त रामचन्द्रजी को सुना दिया ।

हनुमान्‌जी के मुँह से सीतादेवी की दीनदशा, पतिपरायणता, और आत्महत्या का उद्योग तथा रावण की दुष्टता आदि का वृत्तान्त

सुन कर रामचन्द्रजी को बहुत दु:ख हुआ। सीताजी की दी हुई चूड़ामणि को पहचान कर रामचन्द्रजी के नेत्रों से अश्रुजलधारा बह निकली।

बस, इधर सीता का समाचार मिलने तक की देर थी। रामचन्द्रजी ने तुरंत लंका पर चढ़ाई करने के लिए आज्ञा देदी। फिर क्या देर थी। बात की बात में युद्धयात्रा की तैयारी होने लगी। किष्किन्धापुरी के राजा ने अपनी समस्त सेना को लङ्का पर चढ़ाई करने की आज्ञा प्रदान कर दी। सब सेनापति अपनी अपनी सेना को लेकर दक्षिण दिशा को चल पडे।

जब रामचन्द्रजी सेना को लेकर समुद्र के तट पर जा पहुँचे तब उनको समुद्र के पार जाने की बड़ी चिन्ता हुई। वे पार जाने का उपाय सोचने लगे।

उधर जब लंका में रावण को इनकी सेना के आने का समाचार मिला तब वह बड़ा घबराया। वह तुरंत सब सभासदों को बुला कर मन्त्रणा करने लगा कि अब क्या करना चाहिए। राजा की हाँ में हाँ मिलानेवाले लोग बहुत होते ही हैं। रावण के दर्बार में भी ऐसे लोगों की कमी न थी। एक विभीषण को छोड़ कर शेष सारे सभासद् रावण की हाँ मे हाँ मिला कर चुप हो गये।

धर्मात्मा मनुष्य कभी चुप नहीं रह सकता। वह असत्य और अधर्म को कभी अपनी आँखों नहीं देख सकता। भरी सभा में विभीषण ने रावण से कहा—"भाईजी, आप रामचन्द्रजी के साथ युद्ध न करें। उनके साथ वैर लगाने में आपका भला न होगा। यदि आप अपना और अपने राज्य का कुशल चाहते हैं तो आप मेरा कहा मानें। पतिव्रता सीतादेवी उनको सौंप दें और अपने अपराध के लिए उनसे क्षमा माँगे। मुझे आशा है कि ऐसा करने पर दयालु रामचन्द्रजी आपको अवश्य क्षमाप्रदान कर देंगे।"

"विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" के अनुसार रावण काल के वश में था। यही कारण था कि उसने अपने छोटे भाई के अमृतमय उपदेश को सुना अनसुना करके बहुत बुरा माना। यहाँ तक कि उस दुष्ट ने भरी सभा में विभीषण को लात मार कर वहाँ से निकाल दिया। विभीषण भी उस तिरस्कार को सहन न कर लंका को छोड़ कर रामचन्द्रजी के पास समुद्र के उत्तरी तट पर आगया। रामचन्द्रजी ने विभीषण का भाव शुद्ध समझ कर उसके साथ मित्रता करली। विभीषण ने रावण का बहुत सा गुप्त भेद रामचन्द्रजी को बता दिया।

अन्त में बड़े प्रयत्न से नल और नील ने समुद्र का पुल बाँधा। पुल बँध जाने पर सारी सेना समुद्र को पार कर गई। समुद्र के पार ही लंका की सीमा थी। रामचन्द्रजी की सेना ने जाते ही लंका के सब द्वार रोक लिये।

छठा काण्ड

रावण-वध, सीता-परीक्षा, भरतमिलाप और राजतिलक

रामचन्द्रजी की सेना और रावण की सेना में परस्पर युद्ध आरम्भ करने से पहले हम सीताजी के विषय में दो एक बातें कहना बहुत आवश्यक समझते हैं।

जबसे सीताजी लंका में आई हैं तब से, हनुमान्जी से मिलने तक, सीताजी के विषय में जितनी बातें लिखी गई हैं, उनका जितना वर्णन किया गया है, वह सब ऐसा ही है कि जिसको सुन कर हमारे सदय पाठक-पाठिका-गण बहुत दुःखित हुए होंगे। अब हम अपने पाठक-पाठिका-गण को दो एक बातें ऐसी सुनाते हैं कि जिसको सुन कर उनका वह शोक बहुत नहीं तो कुछ कम अवश्य हो जायगा। सुनिए।

यह ईश्वरीय नियम है कि सब मनुष्यों की प्रकृति समान नहीं होती। न सब मनुष्य क्रूर ही होते हैं और न सब दयालु ही। इसी लिए लंका में भी सब लोग क्रूर, पापी और हिंसक ही नहीं थे, वहाँ कुछ लोग धर्मात्मा, दयालु और सज्जन भी थे। यद्यपि असंख्य नराधम राक्षसों के सामने दो चार धर्मात्मा सज्जनों की कोई गिनती नहीं; तथापि धर्मात्मा और न्यायशील मनुष्यों से लंकापुरी सर्वथा रिक्त न थी।

यद्यपि लंकापुरी की अशोकवाटिका में भी रह कर सीताजी को पापी रावण के द्वारा अपार क्लेश पहुँचता था तथापि उनको दो चार लंकानिवासी भद्र स्त्री-पुरुषों से दुःखिनी सीतादेवी को समय समय पर बहुत कुछ सहायता मिलती रहती थी। जब कभी सीतादेवी पति

के वियोग में अधिक व्याकुल होकर रोतीं और विलाप करती थीं तब त्रिजटा और सरमा नाम की दो राक्षसियां उनको धैर्य्य धारण करा कर बहुत समझाया करती थीं। सीतादेवी के पावन चरित्र का प्रभाव उनके हृदय पर ऐसा पड़ गया था कि वे भीतर से सीतादेवी की सच्ची दासी बन गई थीं। यद्यपि वह रावण के भय से ऊपर के मन से सीताजी को डराया धमकाया भी करती थीं तथापि एकान्त में मिल कर वे सीताजी से अपने अपराध की क्षमा मांग लिया करती थीं। त्रिजटा और सरमा दोनों ही रावण की ओर से सीताजी की रक्षा में नियुक्त थीं। सरमा रावण के सब भेद सीताजी को सुना दिया करती थी।

जब कभी रावण अपनी सभा में सीताजी के विषय में कुछ चर्चा छेड़ा करता था तब उसका छोटा भाई विभीषण सीताजी का पक्ष लेकर अपने भाई को बहुत फटकारा करता था। विभीषण ने तो सीताजी के पक्ष का समर्थन करके इतना कष्ट उठाया कि उसे घर से निकल जाना पड़ा।

विभीषण की कन्या कला भी समयानुसार सीताजी को समझा बुझा कर उनको ढाढ़स बँधाती रहती थी। रावण के मामा का नाम माल्यवान् था। वह भी वहीं रहा करता था। उसने भी कई बार रावण को समझाया था और कहा था कि लड़ाई ठानना ठीक नहीं है, रामचन्द्रजी को सीता सौंप देनी चाहिए।

रामचन्द्रजी की बड़ी भारी सेना के आने और उसके द्वारा लंका के घेरे जाने का समाचार सुन कर रावण की प्रधान रानी मन्दोदरी ने भी अपने पति को बहुत समझाया। उसने भी अपने पति से कहा कि "स्वामिन्, आप रामचन्द्रजी से युद्ध आरम्भ न कीजिए। सन्धि करके उनको सीता सौंप दीजिए।"

"विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" इस वचन के अनुसार आसन्नमृत्यु रावण ने किसी की बात न मानी। यद्यपि रामचन्द्रजी के महाबल को देख-सुन कर रावण के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ था तथापि मूर्ख कुमन्त्रियों से प्रोत्साहित होकर वह रामचन्द्रजी के साथ युद्ध करने के लिए तैयारी करने लगा।

महाबली होने पर भी रावण, बिना ही युद्ध किये, सीतादेवी को अपने अधीन करना चाहता था। उसने सोचा कि यदि किसी प्रकार रामचन्द्रजी को सीताजी के मरने का विश्वास दिला दिया जाय तो सम्भव है, वे प्राणप्रिया के परलोकगमन का समाचार सुन कर आप भी प्राण त्याग दें या कहीं अन्यत्र चले जायँ। अथवा सीताजी को ही रामचन्द्रजी के मरने का विश्वास दिलाया जाय तो भी सम्भव है, वे पति के विद्यमान न रहने पर मुझको स्वीकार करलें। क्योंकि रावण को यह पूरा विश्वास था कि भारी से भारी सांसारिक प्रलोभन भी सीताजी को अपने धर्म से विचलित नहीं कर सकता। यही सोच कर दुष्ट रावण ने अन्त में माया-जाल फैलाने का उद्योग किया।

रावण के यहाँ एक राक्षस रहता था। उसका नाम था विद्युज्जिह्व। वह बड़ा मायावी था। रावण ने उसको आज्ञा दी कि तुम ऐसा मुण्ड बना कर लाओ जो ठीक रामचन्द्रजी के मुख से मिलता हो। वहाँ क्या देर थी। विद्युज्जिह्व ने जाकर पहले तो रामचन्द्रजी के मुख की आकृति को अच्छी तरह देखा और फिर देख कर एक वैसा ही मुण्ड तैयार कर दिया। उस रुधिराक्त बनावटी मुण्ड को लेकर रावण गर्जता हुआ अशोकवाटिका में सीताजी के समीप गया और वहाँ पहुँच कर उसने वह मुण्ड सीताजी को दिखा कर कहा कि "जानकि, देखो, जिसके ध्यान में तुमने अपनी यह दुर्दशा कर डाली और जिसके मिलने की आशा में तुमने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, वह वही

तुम्हारा पति आज मैंने मार डाला। देखो, यह उन्हीं का मुण्ड है न? क्या तुम अब भी मेरे अधीन न होगी?"

यद्यपि वह मुण्ड सर्वथा बनावटी था; सीताजी के लिए कोई डर की बात नहीं थी; तथापि विद्युज्जिह्व की क्रियाकुशलता का वह एक ऐसा उत्कृष्ट निदर्शन था कि महाबुद्धिमती सीतादेवी भी उसको सच्चा मान बैठीं। महामतिमती सती सीताजी भी राक्षसी मायाजाल को देखकर मोहित हो गईं। वे उस मुण्ड को अपने स्वामी का ही मुण्ड समझ कर हाहाकार करके रोदन करने लगीं। उन्होंने रामचन्द्रजी के लिए हृदयविदारक विलाप करके रावण से कहा:—"रावण, तुम मुझको ले जाकर मेरे स्वामी के शरीर पर डाल दो और फिर तुरन्त ही मुझे मार डालो। तुम भर्ता और पत्नी को एकत्र कर दो। मैं उन्हीं के साथ परलोक को जाऊँगी। अब मैं क्षण भर भी जीवित रहना नहीं चाहती।"

इस प्रकार सीताजी के कहते ही कहते रावण तो किसी काम से अपने राजदर्बार को चला गया उधर सरमा ने आकर रावण की सारी माया की पोल खोल कर सीताजी के सामने रखदी। सरमा ने समझा दिया कि "यह सब मायाजाल है, छल है; इसमें सत्य का लेश भी नहीं है। तुम किसी बात की चिन्ता मत करो।" इतने में ही रामचन्द्रजी की सेना में इतना आनन्दकोलाहल मचा कि उससे सारी लङ्का गूँज उठी। अब सीताजी को भी निश्चय हो गया कि निःसन्देह यह मायावी राक्षस की बनावटी लीला थी। यह जानकर सीतादेवी ने सरमा की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि "बहन, मैं तुम्हारे इन उपकारों के लिए बड़ी कृतज्ञ हूँ। न मालूम परमात्मा वह शुभ दिन कब दिखावेंगे कि जब इस दुष्ट रावण के फंदे से छुट कर मैं तुम्हारी इन अहैतुकी कृपाओं का बदला चुकाऊँगी।"

तदनन्तर रामचन्द्रजी और रावण की सेना में घोर युद्ध आरम्भ हो गया। राजा सुग्रीव के महावीर सैनिक जी तोड़ युद्ध करने लगे। उन्होंने रावण के कितने ही वीर सैनिक रणक्षेत्र में पछाड़ डाले। ऐसा घमासान युद्ध हुआ कि दोनों ओर के सहस्रों वीर मर कर वीरगति को प्राप्त हो गये। वहां की भूमि रुधिर से लाल हो गई। इतना रुधिर गिरा कि उससे कीचड़ सी हो गई।

एक दिन की बात सुनिए। जब युद्ध मे बहुत से राक्षस मारे गये तब रावण ने अपने पुत्र इन्द्रजित को युद्ध के लिए भेजा। वह बड़ा बलवान् था। वह मेघ की तरह गर्जता हुआ युद्ध-क्षेत्र में पहुँच कर रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को युद्ध के लिए ललकारने लगा। वहाँ क्या देर थी। दोनों भाई अपनी सेना को लेकर युद्ध करने लगे। मेघनाद ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। जब वह बहुत देर तक युद्ध करता करता थक गया तब वह रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को नागपाश में बांध कर अपने घर चला गया। अपने पुत्र के इस विजय पर रावण को अत्यानन्द हुआ। उसने भरी सभा में अपने पुत्र की बहुत प्रशंसा की और बड़ा हर्ष मनाया। ऐसे सुअवसर को रावण कब हाथ से देने लगा था। उसने तुरन्त सरमा राक्षसी को बुलाकर आज्ञा दी कि वह सीता को रथ में बैठा कर युद्धक्षेत्र मे ले जाय और दूर से ही नागपाश में फँसे हुए राम-लक्ष्मण को दिखा लावे। रावण की आज्ञा से सरमा ने वैसा ही किया। अपने स्वामी और देवर को नागपाश मे अचेत बँधे पड़े हुए देख कर सीताजी बड़ी विकल हुईं। अधिक विकलता का कारण यह था कि उन्होंने उनको मरा हुआ समझ लिया था। सीतादेवी ने उस समय ऐसा घोर विलाप किया कि सारा आकाश गूँज उठा। सीताजी की ऐसी विकलता देख कर सरमा ने उनको बहुत समझाया और उस नागपाश का भी भीतरी

भेद बता दिया। उसने उनसे कह दिया कि ये मरे नहीं हैं। अभी थोड़ी देर में ये चेतन हो जायँगे। इस प्रकार सरमा के समझाने से सीताजी को कुछ धैर्य हुआ। सरमा उनको फिर अशोकवाटिका में ले गई।

थोड़ी देर बाद मेघनाद का वह राक्षसी जाल दूर हो गया। नागपाश के बंधन से सब लोग मुक्त हो गये। परन्तु युद्ध फिर भी बंद नहीं हुआ। रामचन्द्रजी की बलवती सेना से युद्ध करते करते रावण के अनेक महाभिमानी योधा मारे गये। उन मरे हुए राक्षसों में जो मुख्य थे उनके नाम ये हैं—धूम्राक्ष, अकम्पन, वज्रदंष्ट्र, कुम्भकर्ण, प्रहस्त, महोदर, अतिकाय, कुम्भ, निकुम्भ, मकराक्ष। यही दस, बीस वीर ऐसे थे कि जिनके भरोसे पर रावण उछला करता था। इनके मारे जाने से लङ्कापुरी वीरशून्या हो गई। अब बस दो वीर नाम लेने योग्य शेष रह गये थे। एक रावण, दूसरा मेघनाद। मेघनाद भी बड़ा मायावी था। जिस प्रकार रावण ने रामचन्द्रजी का बनावटी सिर दिखला कर सीताजी को डराना और बहकाना चाहा था उसी प्रकार मेघनाद भी रामचन्द्रजी को धोखा देने का मायाजाल रचने लगा। वह एक बनावटी सीता को रथ में डाल कर युद्धक्षेत्र में ले गया। वहाँ रामचन्द्रजी और सब के सामने उस रोती हुई माया-सीता का सिर, तलवार मार कर, धड़ से अलग कर दिया। उस राक्षसी लीला को देखकर रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी, और हनुमानजी आदि सभी लोग रो रोकर विलाप करने लगे। जब सुग्रीव ने यह हृदयविदारक समाचार सुना तब वह भी सिर पीट पीट कर रोने लगा। परन्तु महामति विभीषण उस समय वहाँ था। उसने उस राक्षसी माया की पोल उसी समय खोल दी। सब लोग वास्तविक भेद को जान कर निःसन्देह हो गये। इस बार भी दुष्ट मेघनाद की करतूत झूँठी पड़ गई।

मेघनाद फिर युद्धभूमि में आकर सिंह के समान गर्जने लगा। लक्ष्मणजी ने अबकी बार उसके ऊपर इतने बाण बरसाये कि वह विकल हो गया। थोड़ी ही देर में युद्ध करते करते मेघनाद को मूर्च्छा आ गई। वह अचेत होकर धरती पर गिर पड़ा। अबकी बार ऐसा सोया कि फिर न उठ सका।

लक्ष्मणजी के हाथ से मेघनाद के मरने का समाचार सुन कर रावण मारे दुःख के मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ा। जब थोड़ी देर बाद उसको चेत हुआ तब वह शोक और क्रोध में अन्धा होकर, हाथ में तलवार लेकर, अशोकवाटिका को चल पड़ा। उसका विचार इस सारे अनर्थ की मूल सीता को ही मार डालने का था। जिस समय वह क्रोध में बलबलाता और हाथ में तलवार को चमचमाता हुआ सीताजी के समीप जाता था उस समय किसी का सामर्थ्य नहीं होता था कि कोई उसके सामने आ सके। रावण की भयानक मूर्ति को दूर से ही देखकर सीताजी ने मन में समझ लिया कि अब मेरा काल अवश्य आ गया। वे अपने एक मात्र आराध्य देव पति के चरणारविन्द का ध्यान करती हुई पापी रावण की तलवार के आघात की प्रतीक्षा करने लगीं। दुरात्मा रावण सीताजी पर चोट करना ही चाहता था कि इतने में उसकी कुछ स्त्रियों ने दौड़ कर उसका हाथ पकड़ लिया और उसको समझा दिया कि शूरवीर पुरुष अबलाओं पर हाथ नहीं उठाया करते। सारांश यह कि उन स्त्रियों ने रावण को उस स्त्री-हत्या-रूप घोर पाप के करने से बचा लिया। रावण दुःखित होकर घर को लौट आया। परन्तु घर में आकर चैन से नहीं बैठा। मेघनाद के मरने का उसको अपार क्लेश था। रावण को केवल एक मात्र मेघनाद का ही पूर्ण भरोसा था। उसके मरते ही रावण की जयाशा पर पानी फिर गया। हताश होने पर भी वह शान्ति से घर न बैठ सका। अबकी

वीर वह स्वयं युद्धार्थ निकला। उसने युद्धभूमि में आकर रामचन्द्रजी से घोर युद्ध किया। थोड़ी देर युद्ध करने के पश्चात् उसने लक्ष्मणजी के हृदय में एक ऐसी शक्ति मारी कि उसके लगते ही लक्ष्मणजी अचेत होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़े। अपने प्राणप्रिय भ्राता लक्ष्मणजी को मरा हुआ समझ कर रामचन्द्रजी रो रोकर विलाप करने लगे। सुग्रीव आदि भी आर्तनाद करके हाहाकार करने लगे। रामचन्द्रजी की सारी सेना में शोक छा गया। वीर लक्ष्मणजी के लेटते ही रामचन्द्रजी की विजयपताका नीचे को झुक गई। उस समय उन्होंने ऐसा हृदयविदारक विलाप किया कि जिसको पढ सुनकर आठ आठ आंसू रोना पड़ता है। हमारी इच्छा थी और हमने वाल्मीकिरामायण से वह प्रकरण निकाल भी लिया था, कि जिसमें रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को मूर्च्छित देखकर कारुणिक क्रन्दन किया था परन्तु हम उस सब प्रकरण को यहां लिख कर सहृदय पाठक-पाठिकागण को रुलाना नहीं चाहते। हम रामचन्द्रजी के उस विलाप-प्रकरण में से केवल दो चार श्लोक यहां उद्धृत करते हैं। सुनिए—

अयं स समरश्लाघी भ्राता मे शुभलक्षणः।
यदि पञ्चत्वमापन्नः प्राणैर्मे किं सुखेन वा॥
किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः॥
यथैव मां वने यान्तमनुयाति महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥
देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तन्तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः।
एकाकी किं नु मां त्यक्त्वा परलोकाय गच्छसि।
विलपन्तं च मां भ्रातः किमर्थं नावभाषसे॥

(वा० रा०, काण्ड ६, सर्ग १०१)

अर्थात्—"जब यह युद्धविद्याविशारद, मेरा भाई लक्ष्मण ही परलोक को सिधार गया तब मेरे जीने से क्या फल ? फिर मुझे किसी सुख की क्या आवश्यकता ? जब यह वीर लक्ष्मण ही मृत होकर धरणी पर सो रहा है तब युद्ध करके क्या होगा ? फिर मैं जीकर क्या करूँगा ? बस अब युद्ध का काम बंद । जिस तरह यह लक्ष्मण वन को चलने पर मेरे पीछे चला आया था, इसी तरह अब मैं भी इसका अनुगामी बनूँगा । मैं भी इसके साथ यमालय को जाऊँगा । संसार में मनुष्यों को देश देश में स्त्रियाँ मिल सकती हैं, बन्धुजन मिल सकते हैं, पर सहोदर भ्राता नहीं मिल सकता । हे भ्रात लक्ष्मण, तुम मुझको यहाँ अकेला छोड़कर परलोक को क्यों जा रहे हो । इस समय मुझको विलाप करते हुए देख कर तुम मुँह से क्यों नहीं बोलते ।"

इन शब्दों के विचार करने से विदित हो सकता है कि राम चन्द्रजी में कितना भ्रातृप्रेम था ।

हनुमान्‌जी की बुद्धि की प्रशंसा हमसे नहीं हो सकती । और सब लोग तो लक्ष्मणजी के शोक में डूबे पड़े थे, परन्तु महावीर हनुमान्‌जी क्या करते रहे, आप जानते हैं ? क्या वे भी शोकसागर में निमग्न हो गये ? नहीं, शोक तो उनको भी बहुत हुआ, परन्तु वे बड़े धीर थे । उस समय शोक के वेग को रोक कर उन्होंने जो काम किया, उसकी सहस्रमुख से भी प्रशंसा की जाय तो भी कम है । उन्होंने वह काम किया जो किसी से नहीं हो सकता था । वह यह कि उन्होंने तुरन्त एक वैद्य को बुलाया और उसके कथनानुसार बहुत दूर पर एक पहाड़ से कुछ जड़ी बूटी लाकर दी । उसी दिव्य बूटी के प्रयोग से लक्ष्मणजी की मूर्च्छा दूर हो गई । वे चेतन होकर उठ बैठे । रामचन्द्रजी का सारा सन्देह मिट गया । सुग्रीव की सारी सेना मारे आनन्द के उछलने, कूदने और गर्जने लगी । रामचन्द्रजी की सेना के आनन्द-

कोलाहल को सुनकर रावण फिर युद्ध करने के लिए आया। अबकी वार उसने प्रतिज्ञा करली थी कि मैं इस वार पृथ्वी को आराम करूँगा या अरावण। दोनों में से एक वात ज़रूर होगी। ऐसी कठिन प्रतिज्ञा करके रावण रामचन्द्रजी के साथ लोमहर्षण युद्ध करने लगा। उस राम-रावण के महायुद्ध को देखने के लिए कितनेही देवगण अपने अपने विमानों में बैठ कर आकाश में उपस्थित होगये। जब कभी रामचन्द्रजी के पक्ष की जय होती थी तभी देवगण आकाश से फूलों की वर्षा करते थे।

बहुत देर तक युद्ध हुआ। अन्त में रामचन्द्रजी ने क्रोध में प्रज्व-लित होकर एक ऐसा ब्रह्मास्त्र छोड़कर मारा कि उसके लगते ही रावण के शरीर से प्राणपखेरू उड़ गये। वह मर कर भूमि पर गिर पड़ा।

रावण के मरते ही सारी लङ्कापुरी हाहाकार से गूँज उठी। राम-चन्द्रजी की सारी सेना मारे हर्ष के कूदने लगी। रावण के मरने का समाचार सुन कर समस्त ऋषि-मुनि जन हर्ष मनाने लगे। देवताओं ने दुन्दुभी बजाकर और रामचन्द्रजी के ऊपर फूल बरसा कर अपार आनन्द मनाया। रामचन्द्रजी की जयध्वनि से सारा आकाश-मण्डल गूँज उठा। रावण की स्त्रियाँ छाती और सिर पीटती, रोती, चिल्लाती हुई रणक्षेत्र मे आ पहुँचीं। वे रावण के शव के समीप बैठ कर नाना प्रकार का कारुणिक विलाप करने लगीं।

रामचन्द्रजी ने उन स्त्रियों को बहुत समझाया और विभीषण के द्वारा रावण की अन्त्येष्टिक्रिया करवा दी। वह सब कुछ हो चुकने पर फिर उन्होंने लक्ष्मणजी के हाथ से विभीषण को लङ्कापुरी का राज-तिलक करा दिया। विभीषण सारी लङ्का का अधीश्वर हो गया।

महापापी रावण के मर जाने से रामचन्द्रजी की प्रतिज्ञा पूर्ण

हो गई और सुग्रीव की भी। तदनन्तर रामचन्द्रजी ने हनुमान्‌जी को सीताजी का समाचार लाने और रावण के मरने का सुसमाचार सुनाने के लिए अशोक-वाटिका मे भेजा। हनुमान्‌जी ने वहाँ जाकर सीताजी को प्रणाम किया और रामलक्ष्मणजी की कुशलवार्ता सुना कर रावण के मरने का हर्षदायक वृत्तान्त भी सुना दिया। पापी रावण के मरण-वृत्तान्त का प्रियसंवाद सुन कर सीताजी को जितना हर्ष हुआ वह अकथनीय था। शत्रु के मरण-समाचार को सुनकर कुछ देर तक तो सीताजी ऐसी आनन्दमग्न रहीं कि वे कुछ बोल भी न सकीं। कुछ देर के पश्चात् उन्होंने हर्ष में गद्गद वाणी से कहा—"हनुमन्, तुमने आज मुझको जैसा अत्यन्त आनन्दवर्धक समाचार सुनाया है तदनुरूप, मैं संसार भर में कोई वस्तु ऐसी नहीं देखती कि जो इसके बदले में तुमको देकर मैं ऋणमुक्त होसकूँ। संसार के समस्त धनद्रव्य देकर भी मैं तुम्हारे इस उपकार का बदला नहीं चुका सकती।" इतना कहते कहते सीताजी के नेत्रों से हर्ष का जल टपकने लगा।

अपनी परमपूज्या सीताजी के मुख से ऐसी प्रशंसा के वचन सुन कर हनुमान्‌जी को अपार हर्ष हुआ। उन्होंने सीताजी के उन प्रीतिप्रद वचनों से ही अपने को कृतकृत्य समझा।

जो राक्षसियां सीताजी को नाना प्रकार के कष्ट पहुँचाया करती थीं, तरह तरह के भय दिखला कर धमकाया करती थीं, हनुमान्‌जी ने उनके मारने की इच्छा प्रकट करके सीताजी से आज्ञा मांगी; परन्तु दीनवत्सला सीताजी ने उनके मारने की आज्ञा न देकर हनुमान्‌जी से कहा कि "वत्स, ये राक्षसियां सर्वथा निरपराधिनी हैं। इनके मारने का कुछ काम नहीं। ये तो रावण के अधीन थीं; उसी की दासी थीं। उसने जैसा कहा, इन्होंने वैसा ही किया। इसमें इनका कोई अपराध नहीं। स्वामी की आज्ञा का पालन करना सेवक

-या सेवकों सब का परमधर्म है । और अब तो वह दुष्ट मर गया । अब ये हमको दुःख न पहुँचावेंगी । यदि कोई मनुष्य किसी की प्रेरणा से कोई अपराध करे तो बुद्धिमान् मनुष्य को उचित है कि वह उस अपराध करने वाले को नहीं, किन्तु उसके प्रेरक को ही उसका दोषभागी समझे और उसी को उसका प्रतिफल दे । वास्तव में मुझको यहाँ जो दुःख मिले हैं, वे सब मेरे ही कर्मों के फल थे । इसमें किसी का भी कुछ अपराध नहीं ।"

सीताजी के ऐसे उदार और धर्मयुक्त वचनों को सुनकर हनुमान्जी बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने सीताजी की बहुत प्रशंसा करके अपने लिए रामचन्द्रजी के समीप लौट जाने की आज्ञा माँगी । सीताजी ने कहा कि "वत्स, मैं भक्तवत्सल भर्ताजी के दर्शन करना चाहती हूँ ।" महामतिमान् हनुमान्जी ने कहा कि देवि, आप कुछ सन्देह न करें । आजही आप रामचन्द्रजी का दर्शन कर लेंगी ।" इतना कह कर हनुमान्जी सीताजी से विदा ग्रहण कर और उनको प्रणाम करके रामचन्द्रजी के समीप चले आये ।

हनुमान्जी के मुख से जानकीजी का समाचार सुन कर रामचन्द्रजी के नेत्रों से आँसू टपकने लगे । उन्होंने उस समय धैर्य धारण करके विभीषण को बुला कर उससे कहा कि "लङ्केश्वर, तुम लङ्का में जाओ और जानकी को सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कराकर यहाँ लिवा लाओ । हम उनको देखना चाहते हैं ।" आज्ञा पाते ही विभीषण लङ्का में गया और वहाँ जाकर सीताजी को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करवा, और पालकी में बैठा कर, लिवा ले चला ।

जिस समय सीताजी स्नान कर नवीन वस्त्राभूषण धारण करके पतिदेव के समीप चलीं उस समय उनके मन में नाना प्रकार के भाव उदय हो रहे थे । दुष्ट रावण के पंजे से छुट कर पतिदेव के वद-

नारविन्द के दर्शन करने की उनके मन में स्वप्न में भी आशा न थी। परन्तु आज कैसे हर्ष की बात है कि सीतादेवी सचमुच ही अपने स्वामी के मुखचन्द्र के दर्शनार्थ प्रसन्नता से गमन कर रही हैं। परन्तु उनका यह हर्षोल्लास कहीं क्षणभङ्गुर तो नहीं! मार्ग में चलते चलते सीतादेवी मनही मन परमात्मा को प्रणाम करके अनेक हार्दिक धन्यवाद देने लगीं।

सीताजी ते अनेक स्त्रियों के साथ पालकी में बैठी हुई आ रही थीं, इतने में विभीषण ने पहले से ही आकर, सीताजी के आने का शुभ समाचार रामचन्द्रजी को सुना दिया। परन्तु उस समय रामचन्द्रजी की बड़ी विचित्र दशा थी। उनके हृदय में नाना प्रकार के भाव उदय हो रहे थे। उनका हृदय-क्षेत्र विविध प्रकार के अनेक भावों का लीला-क्षेत्र बन रहा था। एक ओर क्षत्रियतेज और वीर-स्वाभिमान तथा दूसरी ओर दाम्पत्य-प्रेम और प्रिया का सम्मिलन; एक ओर सीताजी का राक्षस के घर में निवास और दूसरी ओर सीताजी की पवित्रता; एक ओर लोकापवाद और दूसरी ओर अपने मन में सीताजी की शुद्धि का पूर्ण विश्वास; एक ओर माधुर्य और दूसरी ओर भीषणता; इसी प्रकार के अनेक भाव इकट्ठे होकर रामचन्द्रजी के हृदय में तुमुल युद्ध मचाने लगे। तब रामचन्द्रजी को सर्वथा निश्चेष्ट भाव से अचल बैठे देख कर विभीषण बोला—"वीरसिंह, देवी जानकीजी उपस्थित हैं।" सीताजी को राक्षसेन्द्र रावण के घर से आई हुई समझ कर रामचन्द्रजी और भी अधिक चिन्तामग्न हो गये। उस समय उनके हृदय में आनन्द, क्रोध और दुःख तीनों एक साथ उदय हो आये। उन्होंने थोड़ी सी देर ही चिन्ता करके कहा कि "विभीषण, जानकी को जल्द मेरे समीप लिवा लाओ।" रामचन्द्रजी ने इतना कह तो दिया, परन्तु वे फिर पूर्ववत् चिन्तासागर में निमग्न हो

गये। वे फिर भी पूर्वोल्लिखित भावों का स्वप्न सा देख कर चिन्ता करने लगे।

धर्मात्मा विभीषण ने सब लोगों को वहाँ से हट जाने की आज्ञा दी। सब लोग वहाँ से उठ कर जहाँ तहाँ भागने लगे। उस आने जाने के कोलाहल को सुन कर रामचन्द्रजी का वह चिन्तास्वप्न भंग हो गया। उन्होंने सब लोगों को वहाँ से जाता देख कर विभीषण को बहुत डाटा और कहा कि—

किमर्थं मामनादृत्य क्लिश्यतेऽयं त्वया जनः।
निवर्तयैनमुद्वेगं जनोऽयं स्वजनो मम॥
न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारस्तिरस्क्रिया।
नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियः॥
व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे।
न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियः॥
सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता।
दर्शने नास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥
विसृज्य शिबिकां तस्मात्पद्भ्यामेवापसर्पतु।
समीपे मम वैदेहीं पश्यन्त्वेते वनौकसः॥

(वा० रा०, काण्ड ६, सर्ग ११४)

"हे विभीषण, तुमने मेरा अनादर करके, मुझ से बिना ही पूछे, इन लोगों को क्यों व्यर्थ कष्ट दिया? इनके भगाने को बंद करो। सबको रोको और यहीं बैठाओ। ये सब आत्मीय जन ही हैं। घर, वस्त्र, दुर्ग, तिरस्कार आदि किसी बात से स्त्रियों की रक्षा नहीं हो सकती। उनके लिए ये सब बातें आडम्बर मात्र हैं। स्त्रियों का पक्का आवरण (परदा) सदाचार ही है। यदि स्त्रियाँ स्वयं सदाचारिणी हैं तो उनके लिए किसी प्रकार के आवरण की आवश्यकता नहीं। और,

यदि, वे सदाचार से शून्य हैं, तो उनको चाहे किसी आवरण से ढकिए, कैसी ही दुर्गम जगह मे रखिए, उनकी रक्षा कभी नहीं हो सकती? और फिर विपत्ति मे, युद्ध मे, पीड़ा में, स्वयंवर में, यज्ञ में और विवाह में स्त्रियों का दर्शन करना कोई बुराई का काम नहीं! इन अवसरों पर उनका खुले मुँह आना कोई दोष की बात नहीं है। और ये तो स्वयं अब महाविपत्ति में हैं। इस समय इनके दर्शन करने में किसी प्रकार का दोष नहीं। और विशेष कर मेरे समीप तो दोष का नाम तक नहीं आ सकता। इस लिए पालकी से उतार कर उनको पैदल ही लाओ कि जिससे ये सब वनवासी लोग उनको-मेरे समीप अच्छी तरह देखलें।"

रामचन्द्रजी की आज्ञा से विभीषण ने फिर किसी को वहाँ से नहीं हटाया। जो लोग वहाँ से दूर चले गये थे वे भी बुला लिये गये। फिर विभीषण ने सीताजी की पालकी के समीप जाकर रामचन्द्रजी की आज्ञा सीताजी को सुनादी। वे पति की आज्ञा को सुनते ही संकुचित होकर पैदल ही चलने लगीं। रामचन्द्रजी उस समय गम्भीर भाव धारण किये बैठे थे। सीतादेवी ने धीरे धीरे स्वामी के सम्मुख जाकर अपने मुख का वस्त्र हटा दिया। उस समय उनके हृदय में विस्मय, हर्ष और स्नेह सभी एक साथ आ विराजमान हुए। सीतादेवी ने अपने स्वामी के पूर्णचन्द्रनिभ प्रशान्त मुखमण्डल का दर्शन किया। सीतादेवी की दृष्टि सरल और स्थिर थी। उनके नेत्रों से एक प्रकार का दिव्य प्रकाश सा निकला और उसने उनका समस्त मुखमण्डल प्रदीप्त कर दिया। सीतादेवी कितनी ही देर तक स्वामी के समीप खड़ी हुई अपने को भूल गईं। नहीं मालूम वे कुछ देर तक किस विचार में निमग्न रहीं। उस समय सीताजी को ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों वे अपने पति के साथ विचरती विचरती किसी देवराज्य में पहुँच गईं। उनको ऐसी प्रतीति होने लगी कि उस देवराज्य में न

कहीं पाप है, न अशान्ति। वहां पारिजात वृक्ष के फूल खिले हुए दिखाई दिये। थोड़ी देर तक सीतादेवी उसी मनोदेवराज्य के नन्दन-वन में विहार करती रहीं। जिनके वियोग में सीतादेवी ने अपने सारे सुख मिट्टी में मिला दिये; जिनके विरह में सीतादेवी ने अपने शरीर को अस्थिपञ्जर बना लिया, जिनका ध्यान वे लङ्का में रात-दिन किया करती थीं, जिनके दर्शन की इच्छा उनको रात-दिन चैन नहीं पडने देती थी; सीतादेवी जिनको अपना सर्वस्व समझती थीं उन्हीं प्राणवल्लभ स्वामी के मुखचन्द्र को एक बार देख कर सीतादेवी सहसा विह्वल हो गईं। वे कुछ देर तक स्वामी के मुखारविन्द पर एक टक दृष्टि लगाये देखती रहीं। यह दशा उनकी बहुत देर तक नहीं रही। थोडी देर में उनको चेत हो गया। जो स्वप्न वे देख रही थीं वह सब हवा हो गया। उस समय उनको मालूम हुआ कि मुझे रावण के घर से लाकर महा युद्ध-क्षेत्र मे, सब के सामने खड़ा किया गया है। फिर भी सीताजी स्वामी के सम्मुख चुपचाप खड़ी रहीं।

रामचन्द्रजी, लज्जावनतमुखी जानकीजी को सामने खड़ी देख कर, कहने लगे—"भद्रे, मैं युद्ध में शत्रु को जीत कर तुमको यहां ले आया। मैंने पुरुषार्थ को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। अब मेरा क्रोध शान्त हो गया। अब तक रावण ने मेरा जितना अपमान किया था, मैंने उसका यथेष्ट परिशोध कर दिया। अब मेरा पुरुषार्थ सबने देख लिया। मेरा परिश्रम सफल हो गया। आज मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। जिस काम के पूरा करने का मैंने प्रण किया था वह पूर्ण हो गया। आज मेरी प्रभुता सारे संसार ने देख ली। तुम्हारे ऊपर जो यह दैवी कोप हुआ था उसको मैंने मानुषी शक्ति से दूर कर दिया। आज महावीर हनुमान् की कठिन समुद्र-यात्रा सफल हो गई। मित्र सुग्रीव की समस्त चेष्टायें फलवती हो गईं और महामति विभीषण के समस्त सत्परामर्श और परिश्रम सिद्ध हो गये

रामचन्द्रजी के इन गम्भीर वाक्यों को सुन कर सीताजी के नेत्रों में जल भर आया। उस समय रामचन्द्रजी ने एक बार सीताजी के मुख की ओर आँख उठा कर देखा। सीताजी के सजल जलजनयनों का अवलोकन करके रामचन्द्रजी बहुत कातर हुए। वे अपने भाव को रोक कर फिर कहने लगे—

"अपमान का बदला चुकाने के लिए मानधनी मनुष्य को जो कुछ कर्तव्य था, मैंने वह सब कुछ किया। रावण के साथ मैंने वही किया है जो मुझे करना उचित था। रावण को मार कर अब मैं कृत-कृत्य हो गया। अपने मित्रगणों के भुजबल की सहायता से जो यह मैंने शत्रु का विध्वंस करके विजय प्राप्त किया है, तुम सत्य मानना, यह तुम्हारे लिए नहीं किया। तुम्हारी प्राप्ति के लिए मैंने यह घोर युद्ध कदापि नहीं किया। यह जो कुछ मैंने किया है वह सब अपने चरित्र-रक्षा के लिए, सर्वव्यापी अपवाद के दूर करने के लिए, और अपने प्रख्यातवंश पर आये हुए नीचत्व-अपवाद के धोने के लिए किया है। इस समय तुम्हारे चरित्र के विषय में मुझको बहुत सन्देह है। कारण यह कि तुम पराये घर रह चुकी हो। यह माना कि इस समय तुम मेरे नेत्रों के सामने खडी हो, परन्तु जिस प्रकार नेत्र-पीड़ायुक्त मनुष्य को दीपशिखा नहीं भाती, वह दीपशिखा को देखना नहीं चाहता, ठीक यही दशा इस समय तुमको सामने खडी देख कर मेरी हो रही है। अब तुम मेरे नेत्रों के प्रतिकूल हो। इस लिए मैं कहता हूँ कि अब तुम, जहाँ तुम्हारा जी चाहे वहाँ, जाओ। अब मैं तुमको नहीं चाहता। तुम स्वयं बुद्धिमती हो, स्वयं सोच सकती हो कि ऐसा कौन सत्कुला-भिमानी मनुष्य होगा जो पराये घर में बसी हुई स्त्री को फिर ग्रहण कर ले? तुमको रावण उठा कर ले गया। यह बात सारा संसार जानता है। उसके शरीर का स्पर्श भी तुम्हारे शरीर से अवश्य हुआ

है। यह सबको विदित ही है। फिर भला मैं अपने निर्दोष कुल का विचार करके तुमको, क्योंकर ग्रहण कर सकता हूँ ? तुम्हारे उद्धार के लिए मैंने जो श्रम, जो उद्योग और जो प्रयास किया था वह सब सफल हो गया। अब मैं तुमको ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं समझता। अब तुम जहां चाहो वहीं चली जाओ।"

पतिदेव के मुख से ऐसे वज्राघात समान कठोर वाक्यों को सुन कर सीताजी का हृदय काँप गया, मस्तक घूम गया और नेत्रों के सामने अन्धकार ही अन्धकार छा गया। उस समय उनको मरण से भी अधिक दुःख हुआ। यदि उस समय उनके मस्तक पर वज्रपात भी हो जाता तो भी उससे उतना क्लेश न होता कि जितना रामचन्द्रजी के उन कठोर वाक्यों से उनको हुआ। हन्त! सीताजी का सारा सुख-स्वप्न-भंग हो गया। उनकी सारी आशालताओं पर तुषारपात हो गया। उनके सारे शुभ संकल्पों पर विद्युत्पात हो गया। वे मारे लज्जा के म्रियमाण सी हो गईं। वे आँखों मे आँसू भर कर रोने लगीं। फिर मुख को वस्त्र से ढक कर गद्गदवाणी से कहने लगीं—

"जिस प्रकार नीच पुरुष साधारण नीच स्त्रियों को कटुवाक्य कहा करते हैं उसी प्रकार तुम भी मुझे बड़े भद्दे और कड़े वाक्य कह रहे हो। तुम मुझको जैसी नीच समझते हो, मैं वैसी नहीं हूँ। मैं साधारण नीच स्त्रियों के समान अपने धर्म को बिगाड़ने वाली नहीं हूँ। तुम मेरा विश्वास करो। तुम नीच स्त्रियों के अपवित्र आचरण को देख कर मेरे पवित्र आचरण को दूषित समझते हो, यह बड़ी अनुचित बात है। जब मैं अपनी पवित्रता का प्रत्यक्ष प्रमाण तुमको दे दूँ तब तो तुम मेरे चरित्र को दूषित न समझोगे ? और जो तुम रावण के अङ्गस्पर्श की बात कहते हो सो उस आपत्काल मे, उस पराधीनावस्था में, मैं कर ही क्या सकती थी ? हाय! जब तुम मेरे और अपने बढ़े

हुए अनुराग को ही अभी तक नहीं जानते तब मैं बिना ही मृत्यु के मारी गई! जिस समय हनुमान् मुझको ढूँढ़ने के लिए लंका में आया था उसी समय मेरे परित्याग की बात मुझको क्यों नहीं सुना दी। यदि उसी समय तुम्हारी यह बात मुझको मालूम हो जाती तो मैं हनुमान् के सामने ही उसी समय अपने प्राण त्याग देती। ऐसा होने पर तुम भी अपने जीवन को कष्ट में डाल कर दुःख न उठाते, और तुम्हारे मित्रगण भी संग्राम में व्यर्थ हाथ पैर न तुड़वाते। राजन्, तुम विचार-शील होकर भी मेरे चरित्र को दोषपूर्ण देखते हो—यह बड़ी बुरी बात है। मुझे खेद है और अत्यन्त खेद है कि तुमने मुझको अभी तक नहीं पहचाना। क्या तुमने विवाहकाल में मेरा पाणिग्रहण इसी लिए किया था? हाय! तुमने इस समय क्रोध के वशीभूत होकर, मेरी सारी प्रीति को, मेरे सारे अनुराग को और मेरी अचल भक्ति को भी भुला दिया!"

तदनन्तर रोती और विलाप करती हुईं सीताजी ने दुःखित लक्ष्मणजी से कहा—"लक्ष्मण, तुम मेरे लिए चिता बना कर तैयार करो। अब मेरी आपत्ति की एक मात्र यही ओषधि है। अब मैं मिथ्या अपवाद को सहन नहीं कर सकती। मेरे स्वामी अब मुझसे रुष्ट हो गये। सबके सामने उन्होंने मुझको त्याग दिया। अब मैं अग्नि में भस्म होकर ही प्राणत्याग करूँगी।"

सीताजी की बात सुन कर लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी की ओर बड़ी टेढ़ी दृष्टि से देखा। रामचन्द्रजी ने उनको आँखों में ही समझा दिया। लक्ष्मणजी ने उदास हो चिता तैयार कर दी। जब वह चिता प्रज्वलित हो गई तब सीताजी, रामचन्द्रजी की परिक्रमा करके, उसमें प्रविष्ट होने को उद्यत हुईं। सीताजी को अग्नि में प्रविष्ट होते देख कर वहाँ जितनी स्त्रियाँ थीं वे सब भौंचक्की सी रह गईं। महर्षि, देवगण

सीताजी की अग्निपरीक्षा।

और सब मनुष्य देखने लगे कि विशाललोचना सीताजी पूर्णाहुति के समान अग्नि में प्रवेश करना चाहती हैं। विमानों में बैठे हुए देवगण ऊपर से विस्मित होकर देखने लगे कि विशुद्धचरित्रा जानकीजी वसु-धारा की तरह अग्नि में गिरना चाहती हैं।

जिस समय सीतादेवी अग्नि मे गिरने को हुईं उस समय वे हाथ जोड़ कर कहने लगीं कि "हे अग्निदेव, हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, यदि मैं सच्ची साध्वी हूँ, यदि मेरा पातिव्रत धर्म बना हुआ है तो आप मेरी रक्षा कीजिए। हे देवगण, यदि मैं अपने स्वामी में पूर्ण भक्ति रखती हूँ, यदि मेरा मन पवित्र है तो आप लोग मेरी रक्षा कीजिए।"

इस प्रकार प्रार्थना करके जब सीताजी अग्नि की चिता में कूदीं तब सर्वत्र हाहाकार मच गया। उस समय वहाँ असंख्य स्त्री-पुरुष बैठे थे, परन्तु किसी ने रामचन्द्रजी से कुछ कहना तो अलग रहा, उनके रोषपूर्ण मुखमण्डल की ओर दृष्टिपात तक भी न किया।

उस समय महावीर रामचन्द्रजी का भी हृदय काँप गया। वे भी विचलित हो गये। अपनी प्राणप्रिया को अग्नि में गिरते देखकर उनका चित्त भी घबरा गया। सीताजी अग्नि में गिरी ही थीं कि इतने में विमानों में बैठे हुए देवगण कुछ कहने लगे। उन्होंने जो कुछ कहा वह इस प्रकार था:—

हे राजराजेश्वर, हे रघुपुंगव, हे रामचन्द्र, तुम महाज्ञानी हो। इस समय सीतादेवी की ऐसी उग्र परीक्षा करके तुम उनको दुःखी मत करो। सीतादेवी सर्वथा निष्पापा और साध्वी हैं। उनका चरित्र सर्वथा पवित्र है। तुम उनको ग्रहण करो। हम समस्त देवगण सीताजी की पवित्रता के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। हम धर्म को साक्षी करके यह निश्चयपूर्वक कहते हैं कि सीताजी ने मन से, वचन से, शरीर से, किसी प्रकार से भी अपने चरित्र को दूषित नहीं किया है। पराधीन

रह कह भी इन्होंने तुम्हारा ध्यान कभी नहीं छोड़ा। घोररूपिणी राक्षसियां ने इनको बहुत कुछ बहकाया धमकाया था, परन्तु इन्होंने अपने धर्म की रक्षा के लिए उनकी एक भी बात स्वीकार नहीं की। इनका आन्तरिक भाव विशुद्ध और पवित्र है। इसलिए हम लोग आग्रहपूर्वक निवेदन करते हैं कि तुम इनको ग्रहण करो। इनके चरित्र में तुम लेशमात्र भी सन्देह न करो।"

देववाणी को सुनते ही रामचन्द्रजी सीताजी के ग्रहण करने के लिए सहमत हो गये। तदनन्तर उस चिता में से सीता को तुरंत ही निकाल लिया गया। देवताओं की साक्षी से, सबके सामने, रामचन्द्रजी ने सीताजी को ग्रहण कर लिया। जिस समय रामचन्द्रजी ने सीताजी को ग्रहण किया उस समय सर्वत्र आनन्द छा गया। सब लोग हर्ष से आनन्दध्वनि करने लगे। विमान में बैठे हुए देवगण आकाश से फूलों की वर्षा करने लगे। रामचन्द्रजी और सीताजी की जयध्वनि से चारों दिशायें गूँज उठीं। इतने दिन बाद और ऐसी आपत्तियों के सहने के पश्चात् अपने प्राणेश्वर से मिल कर सीतादेवी को जो आनन्द मिला वह अनिर्वचनीय था। हमारी लेखनी में इतनी शक्ति नहीं कि वह दाम्पत्य-सम्मिलन का पूरा वर्णन कर सके।

हम पहले लिख चुके हैं कि रामचन्द्रजी ने बड़ी बुद्धिमत्ता से सीताजी की शुद्धता का सब को अच्छी तरह निश्चय कराकर, ऋषि-मुनियों और देवजनों के कथनानुसार, सीताजी को ग्रहण कर लिया। जिस समय रामचन्द्रजी ने सीतादेवी को ग्रहण किया था उस समय दोनों पतिपत्नियों को जितना हर्षोल्लास हुआ था उसका यथेष्ट वर्णन करना हमारी शक्ति से बाहर है। थोड़ी सी ही देर में, पतिदेव के सम्मिलन के आनन्द में, सरलस्वभावा सीतादेवी, रामचन्द्रजी के किये हुए पहले तिरस्कार को सर्वथा भूल गईं।

सीतासम्मिलन के पश्चात् रामचन्द्रजी ने विचार कर देखा तो वनवास की अवधि में एक आध ही दिन शेष था। उस समय वे भरतजी की दृढ़ प्रतिज्ञा को स्मरण करके अयोध्या के चलने की इच्छा करने लगे।

रावण के पास एक बहुत उत्तम विमान था। उस विमान की शोभा देखने ही योग्य थी। वह आकाश में उड़ा करता था। उसमें एक गुण बहुत अच्छा था कि वह इच्छानुसार सब ओर चल सकता था और जहाँ इच्छा हो; वहीं रुक सकता था। रामचन्द्रजी की अयोध्यागमन की इच्छा देख कर विभीषण उस विमान को ले आया। रामचन्द्रजी ने भी उसी पर चढ़ कर जाना पसन्द किया। वाल्मीकि मुनि ने उस विमान की बहुत बड़ी प्रशंसा लिखी है। हम यहाँ उसका पूरा वर्णन करें तो बहुत विस्तार हो जायगा। अतः हम यहाँ उसका कुछ संक्षिप्त वर्णन करते हैं। सुनिए।

भारतवर्ष में पहले अनेक शिल्पकला-विशारद विद्वान् हो गये हैं। अब नहीं हैं तो क्या; पहले तो यहाँ एक से एक उत्तम शिल्पी विद्यमान था। उनमें विश्वकर्मा और मय ये दो शिल्पी बहुत प्रसिद्ध थे। उस पुष्पक विमान का कर्ता विश्वकर्मा था। विश्वकर्मा ने वह विमान बहुत ही बड़ा बनाया था। उसका रंग श्वेत था। उसमें चारों ओर अनेक ध्वजायें फहरा रही थीं। उसमें सुवर्ण की पच्चीकारी का बहुत अच्छा काम हो रहा था। उसमें एक नहीं अनेक स्थान बने हुए थे। वे स्थान सब प्रकार का सुख देने वाले थे। उस विमान के एक कोने में बहुत बड़ा पुस्तकालय था। उसमें सब प्रकार की पुस्तकें पढ़ने के लिए सर्वदा विद्यमान रहती थीं। उसमें शौचालय, स्नानालय, पाकशाला, भोजनशाला, व्यायामशाला और शयनालय बहुत ही सुख-दायक बने हुए थे। बैठने के लिए बहुत अच्छे और कोमल गद्दे बिछे

हुए थे। जगह जगह पुष्पित पौदे लग रहे थे। समस्त विमान दिव्य सुगन्धि का स्थान बन रहा था। कहाँ तक कहें, वह विमान सर्व प्रकार के सुखों का निधान था।

अस्तु, जब विमान आगया और रामचन्द्रजी ने उस पर चढ़ने का विचार किया उस समय विभीषण आदि राक्षसों और सुग्रीव आदि मित्रों तथा उनके सेनापतियों और अनेक सैनिकों ने भी रामचन्द्रजी के साथ अयोध्या चलने की इच्छा प्रकट की। रामचन्द्रजी ने उनकी आन्तरिक इच्छा देख कर उनको भी साथ चलने की आज्ञा दे दी। सब लोग चलने को तैयार हो गये। पहले रामचन्द्रजी ने पकड़ कर सीताजी को विमान पर चढ़ाया और फिर लक्ष्मणजी के साथ आप भी चढ़ गये। उनके पश्चात् सुग्रीव, विभीषण और हनुमानजी आदि सब सैनिक चढ़ गये। जब सब लोग अपने अपने आसनों पर पृथक् पृथक् सुखपूर्वक बैठ गये तब रामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर विमान चल पड़ा।

जब विमान आकाश में पहुँचा तब ऊपर से सारी लंका और युद्धभूमि का सारा दृश्य स्पष्टतया दिखाई देने लगा। रामचन्द्रजी ने सीताजी को उँगली से बता बता कर युद्धभूमि के वे सब स्थान दिखा दिये जहाँ प्रधान प्रधान घटनायें हुईं थीं। फिर विमान उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। जब विमान समुद्र के ऊपर पहुँचा तब ऊपर से समुद्र की और नल-नील के बाँधे हुए पुल की शोभा को देख कर सीताजी को बहुत आनन्द हुआ।

मार्ग में जो जो प्रसिद्ध स्थान आते जाते थे रामचन्द्रजी उन सब को सीताजी को बतलाते जाते थे। समुद्र के उत्तरी भाग की ओर पहुँच कर फिर उनका विमान किष्किन्धा की ओर चला। अल्प काल में ही वह किष्किन्धापुरी में पहुँच गया। वहाँ पहुँच कर सीतादेवी

ने सुग्रीव आदि की स्त्रियों को भी अपने साथ अयोध्यापुरी ले चलने की प्रबल इच्छा प्रकट की। रामचन्द्रजी ने उनकी इच्छा से विमान को नीचे उतरने की आज्ञा प्रदान की। विमान भूमि पर उतर आया। सीताजी के परामर्शानुसार तारा और रुमा आदि स्त्रियाँ भी विमान पर चढा ली गईं।

फिर विमान ऊपर उठा। वह फिर अयोध्या की ओर चलने लगा। ऋष्यमूक पर्वत के समीप पहुँच कर रामचन्द्रजी ने सीताजी से कहा कि किष्किन्धानरेश राजा सुग्रीव के साथ हमारी मित्रता इसी पर्वत पर हुई थी। फिर उन्होंने अति कमनीय पम्पा नामक सरोवर का वर्णन करके सीताजी से कहा कि हमने तुम्हारे वियोग में इस स्थान पर बहुत विलाप किया था। फिर महापूज्या तपस्विनी शबरी के आश्रम को दिखला कर उन्होंने वह स्थान दिखलाया कि जहाँ कवन्ध राक्षस को मारा था। वहाँ से थोडी ही दूर विमान चला था कि इतने में पवित्रनीरा परमपावनी गोदावरी आगई। उसका दर्शन करके फिर वे पञ्चवटी के समीप जा पहुँचे। वहाँ पहुँच कर रामचन्द्रजी ने अपने रहने की पर्णशाला दिखाई। तदनन्तर महामुनि अगस्त्य, महात्मा शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण तथा अत्रि मुनि के आश्रम का दर्शन करते कराते हुए रामचन्द्रजी चित्रकूट के समीप पहुँच गये। फिर वहाँ से प्रयाग में चल कर गंगा-जमुना के सङ्गम को देख कर सबको परम आनन्द हुआ। इतने ही में भरद्वाज ऋषि का पवित्र आश्रम आ गया। वहाँ रामचन्द्रजी ने विमान को नीचे उतारा। विमान से उतर कर रामचन्द्रजी ने ऋषि को प्रणाम किया। ऋषि भी उनसे मिल कर बहुत सन्तुष्ट हुए। रामचन्द्रजी के वनवास का संक्षिप्त वृत्तान्त सुन कर भरद्वाजजी को बहुत आनन्द हुआ। सीताहरण के दुःखदायक समाचार को सुन कर तो पहले उनको बहुत दुःख हुआ, परन्तु जब

उसके परिणाम का वृत्तान्त, अर्थात् रावण आदि दुष्ट राक्षसों का वध, सुना तब उनको अपार हर्ष हुआ।

सीतादेवी के पातिव्रत धर्म की महिमा सुन कर भरद्वाजजी ने उनको बहुत धन्यवाद दिया और उनकी बहुत प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि सीतादेवी, राजर्षि जनक की पुत्री, महाराज दशरथ की पुत्र-वधू और धर्मधुरंधर रामचन्द्रजी की पत्नी होकर क्यों न ऐसा काम करती। तदनन्तर भरद्वाजजी के द्वारा भरतजी तथा अयोध्यानिवासी अन्यान्य आत्मीय जनों का कुशलवृत्तान्त सुन कर रामचन्द्रजी को बहुत आनन्द हुआ।

भरद्वाजजी के आश्रम से रामचन्द्रजी ने हनुमान्जी को पहले से ही समाचार सुनाने के लिए अयोध्या भेज दिया। तापसवेषधारी भरतजी हनुमान्जी के मुख से अपने पूज्य जेष्ठ भ्राता के कुशलपूर्वक आने का आनन्द-समाचार सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। हर्ष के मारे उनके नेत्रों में जल भर आया और शरीर पुलकायमान हो गया। हनुमान्जी ने संक्षेप से रामचन्द्रजी के वनवास की सारी कथा भरतजी को कह सुनाई। अपने भाई के वीर-कर्मों की कथा सुन कर भ्रातृभक्त भरतजी का हृदय आनन्द से उमड़ने लगा। रामचन्द्रजी के आने का समाचार सुनते ही सारी अयोध्यानगरी में आनन्दोल्लास मनाने के लिए आज्ञा प्रचारित कर दी। सर्वत्र आनन्दोल्लास मनाया जाने लगा। अयोध्या में बड़ी सजावट की गई; समस्त राजपथों मे सुगन्धित द्रव्यों का छिड़काव किया गया। घर घर बन्दनवारें बाँधी गईं। ध्वजा और पताकायें फहराने लगीं। जब राजमहलों में यह समाचार पहुँचा तब राजमहल ही नहीं किन्तु सारी नगरी आनन्द-ध्वनि से गूँजने लगी।

उस समय जो जैसी दशा में बैठा था वह वैसी ही दशा में उठ

कर रामचन्द्रजी के दर्शनार्थ चल पड़ा। कौशल्या आदि मातायें भी गुरु वशिष्ठजी के साथ अयोध्या से निकल कर नन्दिग्राम में भरतजी के समीप जा पहुँचीं। देखते ही देखते वहां असंख्य मनुष्यों की भीड़ लग गई।

सब लोग रामचन्द्रजी के विमान के आने की आशा में ऊपर को मुख किये उत्तर की ओर देखने लगे। इतने में ही रामचन्द्रजी का विमान आ पहुँचा। रामचन्द्रजी ने ऊपर से ही भरतजी, गुरुजी, माताजी तथा अन्यान्य मन्त्रिजनों और पुरजनों को नीचे खड़ा देख कर विमान को नीचे उतार लिया। आप नीचे उतर कर पैदल ही चलने लगे। सबसे पहले भरतजी ने रामचन्द्रजी को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। रामचन्द्रजी ने उनको उठा कर हृदय से लगाया और कुशल-समाचार पूछा। राम-भरत-सम्मिलन के आनन्द का पूर्णतया वर्णन करने में जब आदि-कवि वाल्मीकि मुनि और गोस्वामी तुलसीदासजी ही की लखनी थक गई तब हमारे जैसा तुच्छ लेखक तो उसके वर्णन करने का साहस भी नहीं कर सकता। जब दोनों भाई परस्पर मिले तब दोनों के हृदय मारे प्रेम के भर गये। वह प्रेम इतना अधिक बढ़ा कि उनके हृदय में न समा सका। वह नेत्रों के द्वार से वाष्परूप होकर बह निकला।

तदनन्तर भरतजी ने लक्ष्मणजी से आदरपूर्वक बातचीत करके सीताजी को अभिवादन किया और तत्पश्चात् सुग्रीव, हनुमान् तथा विभीषण आदि से प्रेमपूर्वक मिल कर अपने सदाशय का परिचय दिया। इतने में ही महावीर शत्रुघ्न ने भी आकर रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीतादेवी को प्रणाम किया। फिर रामचन्द्रजी ने सामने माताओं को खड़ा देख कर सबसे पहले कैकेयी को प्रणाम किया और फिर कौशल्या तथा सुमित्रा को प्रणाम कर उनको आनन्दित किया।

तदनन्तर रामचन्द्रजी ने जब अपनी प्रेमदृष्टि से पुरवासियों की ओर निरीक्षण किया तब सबने प्रसन्न-मन से उनका स्वागत किया और कुशल-समाचार पूछा।

इस सम्मिलनोत्सव के अनन्तर धर्मात्मा भरतजी ने रामचन्द्र की वे खड़ाऊँ लाकर उनके पैरों में पहना दीं और हाथ जोड़ कर बड़ी नम्रता से निवेदन किया कि "हे नाथ, आपने जो अपना राज्य कुछ दिन के लिए मेरे अधिकार में न्यासरूप रख छोड़ा था वह आपको अर्पण करता हूँ। उसे आप ग्रहण कीजिए। मैं आपको आज अयोध्या-नगरी में आया देख कर बहुत प्रसन्न हूँ। अब मेरा जन्म सफल हो गया। अब अपना कोष, सेना आदि सब सामग्री सँभाल लीजिए। मैंने आपके ही प्रताप से आपका कोष तब से दस गुना अधिक कर दिया है।"

तदनन्तर रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी। उनके गुरु वशिष्ठजी ने उस महोत्सव के लिए विजय, जाबालि, कश्यप, गौतम और वामदेव आदि अनेक ऋषि-मुनि निमन्त्रण भेज कर बुलवाये। इन सब ऋषि-मुनियों ने मिल कर वेदोक्त विधि के अनुसार रामचन्द्रजी को राजतिलक दिया। रामचन्द्रजी के राजसिंहासन पर बैठ जाने पर सारी प्रजा अपने को सनाथ मानने लगी। रामचन्द्रजी के राजतिलकोत्सव का आनन्द सारे राज्य भर में बड़े समारोह के साथ मनाया गया।

राजसिंहासन पर बैठ जाने के पश्चात् रामचन्द्रजी ने सुग्रीव, अंगद और विभीषण आदि को विविध रत्नादि का पुरस्कार देकर अच्छी तरह सत्कृत किया। उसी समय उन्होंने एक बहुमूल्य रत्नजटित हार सीताजी को भी पारितोषिक में दिया। उस हार को उतार कर सीतादेवी ने अपने स्वामी के परामर्शानुसार अपने महोपकारी महा-

वीर हनुमान्‌जी को दे दिया। उस प्रीति-उपहार-सम्बन्धी हार को ग्रहण कर के हनुमान्‌जी को बहुत आनन्द हुआ।

कुछ दिनों के पश्चात् सुग्रीव और विभीषण आदि मित्र अयोध्या नगरी की अच्छी तरह सैर कर और रामचन्द्रजी से विदा ग्रहण करके अपने अपने स्थान को चले गये।

तदनन्तर रामचन्द्रजी अपने भाइयों और मन्त्रियों की सहायता से पुत्र के समान प्रजा का पालन करने लगे। उनके राज्य में प्रजा को जो सुख-चैन मिला, जो स्वातन्त्र्य मिला, उसे लाखों वर्ष बीत जाने पर भी भारतवासी अभी नहीं भूले हैं। जब तक चन्द्र-सूर्य आकाश-मण्डल में विराजमान रहेंगे तब तक रामचन्द्रजी के परमसुखदायक सुखराज्य को प्रत्येक आर्य स्मरण रक्खेगा।

रामचन्द्रजी ने अनेक यज्ञ किये। उनकी देखादेखी उनकी सारी प्रजा वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान बहुलता से करने लगी। उनके राज्य में चारों वर्ण अपने अपने धर्मों का अनुष्ठान करते थे।

सीतापति के सुराज्य में सत्य का अधिक प्रचार था। प्राय: सब लोग सत्यवादी थे। इसी कारण उनके न्यायालय में काम की अधिक भीड़ नहीं रहती थी। उनके न्यायालय में वकीलों की दाल नहीं गलती थी। अथवा यों कहना चाहिए कि उनके राज्य में एक भी झूँठा अभियोग नहीं चलाया जाता था। जहाँ सत्य हो, जहाँ न्याय और धर्म हो वहाँ किसी मध्यस्थ की क्या आवश्यकता ? जहाँ साक्षात् न्यायमूर्त्ति धर्म्मावतार सीतापति रामचन्द्रजी स्वयं न्यायासन पर विराजमान हों वहाँ अधर्म का, अन्याय का और इनके प्रवर्तकों का क्या काम ! जिस प्रकार अग्नि के समीप शीत नहीं फटक सकता, सूर्य्य के समीप अन्धकार का नाम नहीं रहता, और धर्म के समीप अधर्म दिखाई नहीं देता

उसी प्रकार रामचन्द्रजी के राजत्वकाल में अधर्म, अन्याय और कुचाल का कहीं नाम भी नहीं सुनाई देता था ।

आज सीतादेवी राजमहिषी हो गई । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि इससे पहले उनको कोई बड़ी आपत्ति थी । जिस दिन पतिदेव के साथ सीतादेवी १४ वर्ष के लिए वनवास को गई थीं उस दिन भी उनको कम आनन्द नहीं था । वनवास में भी उन्होंने कभी दुःख नहीं माना । सीताजी पतिव्रता थीं । पतिदेव की चरण-सेवा में ही उनको सुखानुभव होता था । पतिदेव के चरणसरोरुहों के दर्शन करके उन्होंने वनवास के दिन भी बहुत सुखपूर्वक व्यतीत किये। उन्होंने कभी किसी बात के लिए दुःख प्रकाशित नहीं किया । सीता-देवी राजपुत्री, राजपुत्रवधू और अति सुकुमारी होकर भी पतिदेव के साथ, १४ वर्ष तक, बड़े आनन्द से वन में रहीं । उनके हृदय में प्राकृतिक सौन्दर्य की दर्शन-लालसा स्वाभाविक थी । वे प्राकृतिक शोभा का निरीक्षण और स्वामी के चरणकमल की सेवा करके वन के दुःखों को भी सुख ही मानती थीं । बस, दुष्ट रावण के वश में रह कर उनको जो कुछ दुःख हुआ, सो हुआ । सो वहाँ भी उनको जो दुःख था वह स्वामी के वियोग का ही था । वास्तव में पतिव्रता नारी को जितना आनन्द पतिदेव की सेवा में, उनके सहवास में, मिलता है उतना और कहीं नहीं मिल सकता ।

अस्तु, सीतादेवी आज राजमहिषी बन गई । अब सीताजी के आनन्द की सीमा न रही । उनके कोई सपत्नी नहीं । उनके स्वामी अपनी स्त्री के अतिरिक्त और किसी स्त्री को कभी कुदृष्टि से देखते तक नहीं । वे जैसे जितेन्द्रिय और धर्मपरायण थे वैसे ही स्वपत्नी के प्रति अनुरागी भी थे । वे सीतादेवी को प्राणों के समान प्रिय सम-झते थे । राजमहिषी सीतादेवी सचमुच आज बड़ी ही भाग्यशालिनी

हैं। आज वे स्वामी के साथ समस्त राज्यैश्वर्य की अधीश्वरी हो गईं। आज सैकड़ों भृत्यवर्ग उनके कृपाकटाक्ष की प्रतीक्षा कर रहे हैं। रामचन्द्रजी को अपने प्रताप से राज्यशासन और प्रजापालन करते देख कर सीतादेवी को असीम आनन्द होता था। परन्तु ऐसे महान् गौरव को प्राप्त होकर भी सीतादेवी को अभिमान का लेशमात्र न था। उनके स्वभाव में तनिक भी परिवर्तन न हुआ। यदि बाल्यकाल से देखा जाय तो अवस्था-परिवर्तन के अतिरिक्त और उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। राजमहिषी के लिए जिन जिन गुणों की आवश्यकता थी वे सब गुण सीतादेवी में विद्यमान थे। इतने भारी राज्य की अधिष्ठात्री हो कर भी सीतादेवी बड़ी श्रद्धा-भक्ति से पतिदेव की सेवा किया करती थीं। यही नहीं, किन्तु अपनी सब सासुओं की भी वे बड़े आदर के साथ शुश्रूषा किया करती थीं।

सीतादेवी स्वामी के सुख में अपना सुख, उनके सौभाग्य में अपना सौभाग्य और उनके यश में अपना यश समझती थीं। अपने कर्तव्य-कर्मों के पालन में सीतादेवी सदैव दत्तचित्त रहती थीं। उन्होंने अपने कर्तव्य मे कभी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आने दी।

रामचन्द्रजी प्रायः राज्यकार्य्य करने के पश्चात्, मध्याह्नोत्तर, राजमन्दिर में आकर सीतादेवी के साथ वार्तालाप में बहुत सा समय लगाया करते थे। उस समय सीतादेवी भी सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर पतिदेव के समीप नाना प्रकार की आनन्द-वार्ताओं में कालयापन किया करती थीं।

इसी प्रकार बहुत दिन तक सुखभोग करने के पश्चात् एक दिन रामचन्द्रजी ने सीताजी के मुखमण्डल पर पाण्डुवर्ण की झलक देख कर मन में बहुत आनन्द माना। कई लक्षणों से सीतादेवी को गर्भ-

वती जान कर रामचन्द्रजी के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने अत्यन्त अनुराग से सीताजी को अङ्क में लेकर पूछा—"प्रिये, मैं देखता हूँ तुम्हारे मुखमण्डल पर ऐसे चिह्न वर्तमान हैं जैसे गर्भवती नारी के होते हैं। मैं हर्ष के साथ तुम से पूछता हूँ कि इस समय तुम क्या चाहती हो ? जो तुम कहोगी मैं तुम्हारे उसी प्रियकार्य्य का सम्पादन करूँगा। कहो, क्या इच्छा है ?"

देवी जानकी लज्जा से अधोमुखी होकर कुछ मन्द मुस्कान के साथ पतिदेव से बोलीं—"नाथ, इस समय मेरे मन में ऋषि-मुनियों के पवित्र आश्रमों के दर्शन की प्रबल इच्छा हो रही है। जहाँ भगवती भागीरथी के सुरम्य तट पर महामहिम मुनिवर्य्य तपस्या कर रहे हों, मैं वहीं जाकर उस तपोभूमि का दर्शन करना चाहती हूँ। अधिक नहीं, बस एक दिन के लिए, यदि आप मुझको वन्य आश्रमों का दर्शन कराने की कृपा करें तो मेरी इच्छा पूर्ण हो जाय।"

हम पूर्व कई बार कह चुके हैं कि सीतादेवी के चित्त में प्राकृतिक सौन्दर्य्य की दिदृक्षा का स्वाभाविक गुण था। यदि उनके जीवन-चरित्र में कोई विशेषता की बात थी तो एक यही। राजमहिषी होकर, राजकीय सुखभोगों को त्याग कर वन्य आश्रमों में कन्द, मूल और फलों के खाने के लिए इतनी उत्कट प्रवृत्ति होना क्या कम आश्चर्य की बात है ? प्रिय स्वजनों को छोड़ कर सिंह-मृगाकीर्ण भयंकर वन में जाने की उत्कट लालसा का होना क्या उनकी प्राकृतिक सौन्दर्य्य-प्रियता का ज्वलन्त प्रमाण नहीं है ? परन्तु हाय ! अभागिनी जानकी ! तुमको अभी यह विदित नहीं कि तुम्हारी यह लालसा ही, वन्यआश्रमों में लिए यह प्रबल दिदृक्षा ही, तुम्हारे सर्वनाश का कारण होगी !

अस्तु, प्रियतमा के वचनों को सुन कर रामचन्द्रजी ने अगले ही दिन तपोवन भेजने का अभिवचन दे दिया। सीतादेवी प्रसन्न हो गईं। रामचन्द्रजी प्रसन्न होकर स्वकार्यार्थ अन्यत्र चले गये।

सातवाँ काण्ड

सीतावनवास

यह हम पूर्व ही दिखला चुके हैं कि रामचन्द्रजी पुत्रवत् प्रजा का पालन करते थे। उनके सुराज्य मे कोई मनुष्य निर्धन नहीं था, कोई चिररोगी नहीं था। सब लोग बड़ी प्रसन्नता से अपने अपने काम करते थे। रामचन्द्रजी के सुशासन से प्रजा इतनी सन्तुष्ट थी कि वह सदा उनको पिता के समान चाहती थी। रामचन्द्रजी ने अपने सुशासन के प्रताप से अल्पकाल में ही प्रजा को अपनी मुट्ठी में कर लिया। यही नहीं उन्होंने प्रजा के धर्म की भी रक्षा की। उन्होंने किसी के धर्म पर आघात नहीं पहुँचने दिया। जिस तरह राजा प्रजा के धन, जन का रक्षक होता है। इसी तरह उनके धर्म का भी वह शास्त्रानुसार रक्षक होता है। जो राजा प्रजा के धर्म की रक्षा नहीं करता, उनकी धार्मिक उन्नति में सहायता नहीं पहुँचाता वह नाम मात्र का राजा है। धर्मशास्त्र में राजा वही बतलाया है जो प्रजा को पुत्र के समान चाहे, उसके धन- माल की रक्षा करे और उसके धर्म पर तनिक भी आघात न पहुँचने दे। उस प्रजा के बड़े भाग्य समझने चाहिएँ जिसके ऊपर रामचन्द्रजी जैसे उदार, प्रजाप्रिय, न्यायकर्ता और धर्मात्मा राजा का सुशासन हो।

प्रजा को सुखी और उन्नत देख कर रामचन्द्रजी को अपार हर्ष होता था। वे सदा निर्भयता से राज्य करते थे। उनमे निर्भयता भी इतनी अधिक थी कि वे कभी किसी से नहीं डरते थे। बस, यदि उनको डर था तो केवल दो बातों से। एक अधर्म से और दूसरे अपयश से। तनिक से अपयश से भी वे कोसों दूर भागते थे। लोकनिन्दा के सहन करने की उनमें लेशमात्र भी शक्ति न थी। यहाँ तक कि

मिथ्या अपवाद के कारण अपने सत्य विश्वास को भी कुछ नहीं समझते थे। क्या ऐसा स्वभाव रामचन्द्रजी जैसे धर्मपरायण महापुरुष के लिए कलङ्क की बात नहीं थी? क्या किसी को मिथ्या अपवाद के डर से अपने सत्य विश्वास को पैरों तले कुचल डालना चाहिए? कभी नहीं, परन्तु रामचन्द्रजी में यह बात विद्यमान थी। वे मिथ्या अपवाद से भी इतने भयभीत हो जाते थे कि उसके सामने किसी को कुछ नहीं गिनते थे। इसी दौर्बल्य के कारण उन्होंने एक बार बहुत बड़ा अनर्थ कर डाला जो सीतादेवी के भविष्यमाण चरित्र में वर्णन किया जायगा।

रामचन्द्रजी के विषय में जो हम यह दोषारोपण कर रहे हैं, यह हमारा निज का विचार है। सम्भव है, हमारा यह विचार, यह अनुमान, सभ्रम हो। बड़ों की बात बड़े ही जानें। "सर्वं हि महतां महत्" इस लोकोक्ति के अनुसार बड़ों की सभी बातें बड़ी होती हैं। सम्भव है कि उनके इसी स्वभाव-दौर्बल्य में कोई महत्त्व की बात छिपी हो। सम्भव है, इस दौर्बल्य को उन्होंने किसी महदुद्देश्य के साधन के लिए ही जान बूझ कर धारण कर रक्खा हो। अस्तु, हम यहाँ इतना अवश्य कहेंगे कि इनके इस स्वभाव-दौर्बल्य के कारण बेचारी निरपराधिनी सीतादेवी को जीवन के अन्तिम भाग में असह्य कष्ट भोगना पड़ा।

प्रजा के बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के समाचार मालूम करने के लिए रामचन्द्रजी ने कितने ही गुप्तचर नियत कर रक्खे थे। वे दूत नित्य सायंकाल को आ कर सब समाचार रामचन्द्रजी को सुनाया करते थे।

सीतादेवी को वन में जाने और ऋषियों के आश्रम के दर्शन करने की आज्ञा देकर रामचन्द्रजी उसी स्थान में पहुँचे जहाँ आकर दूत उनको दैनिक समाचार सुनाया करते थे। उस दिन एक दूत ने आकर कहा—"महाराज, सर्वत्र प्रजा आपकी बहुत प्रशंसा करती है।

परन्तु एक साधारण मनुष्य के मुँह से जो मैंने एक बात सुनी है, वह भी मैं आपकी आज्ञा से सुनाना चाहता हूँ। यद्यपि वह बात सर्वथा मिथ्या है, और उसको सुन कर आप को दुःख भी होगा, तथापि आपने मुझको आज्ञा दे रक्खी है कि "जो कोई जैसी बात कहे, चाहे वह हमारी प्रशंसा की हो, चाहे निन्दा की, सब आकर हमसे कह दिया करो।" तदनुसार मैं आप की आज्ञा का बराबर पालन करता हूँ। सुनिए।

"एक साधारण मनुष्य को मैंने इस प्रकार कहते सुना कि वैसे तो रामचन्द्रजी बड़े सत्यप्रतिज्ञ, धर्मात्मा, शूरवीर और प्रजावत्सल हैं, परन्तु न मालूम, महीनों रावण के घर रही हुई सीता को उन्होंने क्यों ग्रहण कर लिया! जब राजा ही धर्म का विचार न रक्खेगा तब प्रजा क्या रक्खेगी? यदि कभी हमको भी ऐसा अवसर मिलेगा तो हम भी उन्हीं की तरह करेंगे।"

इतना सुनते ही रामचन्द्रजी के हृदय में भारी आघात पहुँचा। सीतादेवी के पवित्र चरित्र पर साधारण प्रजा के द्वारा मिथ्या कलङ्क लगाने की बात सुन कर रामचन्द्रजी के मस्तक में चक्कर आ गया। उनके नेत्रों के सामने अन्धकार छा गया। सीतादेवी के शुद्ध चरित्र के विषय में उनको पूर्ण विश्वास था। वे अच्छी तरह जानते थे कि जानकी का चरित सर्वथा निष्कलङ्क है। अपने इस सत्य विश्वास के विरुद्ध एक साधारण मनुष्य के मुँह से मिथ्या अपवाद की बात सुन कर रामचन्द्रजी इतने अधीर हुए कि उनके नेत्रों से अश्रुजलधारा बहने लगी। वे अपने दौर्भाग्य की निन्दा करते हुए मन में कहने लगे कि "हाय! निरपराधिनी, प्रेम की प्रतिमा, प्रियतमा जानकी को मैं क्योंकर घर से निकाल दूँ। हाय! मैं प्यारी के विना कैसे जीवित रह सकूँगा। हाय! मेरी मृत्यु क्यों नहीं हो जाती। हाय! जानकी को त्याग कर

मैं राजा जनक को क्या मुँह दिखाऊँगा ? इस लोकापवादरूप कलङ्क के धब्बे का दूर होना बिना जानकी के त्याग किये सर्वथा असम्भव है। "हाय ! प्रिये जानकि ! हा राममयजीविते ! हा प्राणप्रिये ! मैं तुझको किस प्रकार अलग करूँ !" इसी प्रकार सीताजी के शोक में विह्वल हो कर रामचन्द्रजी हाहाकार करके रोने लगे।

इतने में ही भरतजी और लक्ष्मणजी भी आगये। उन्होंने दूर से ही रामचन्द्रजी को अत्यन्त शोकार्त देख कर मन मे नाना प्रकार की सन्देहयुक्त-कल्पनायें कीं। वे समीप आकर बैठ गये। उनको देख कर रामचन्द्रजी और भी अधिक रोने लगे। थोड़ी देर में शोक के वेग को रोक कर रामचन्द्रजी ने सीताजी के अपवाद की बात सुना कर लक्ष्मणजी से कहा कि "भाई, तुम तो सब जानते ही हो कि हमारी और तुम्हारी अनुपस्थिति में दुष्ट रावण पंचवटी से जानकी को चुरा ले गया था। हमने उसको समूल नष्ट करके उस अपमान का बदला भी सबके सामने लेलिया। रावण के मर जाने के पश्चात् जब जानकी हमारे सामने लाई गईं थीं तब हमने उनके चरित पर सन्देह प्रकट किया था। इसलिए नहीं कि उनका चरित कलङ्कित था; नहीं नहीं, उनके सदाचार, उनकी पवित्रता पर हमको पूरा विश्वास था। हम उनको सर्वथा निष्पापा ही समझते थे। परन्तु अपयश को दूर करने के लिए, केवल लोकाचार के विचार से, हमने उनके शुद्ध जीवन-चरित पर आशंका की थी। जानकी ने इस शंका को भी सबके सामने दूर कर दिया। देवताओं और ऋषि-मुनियों ने जानकी को, सबके सामने, शुद्ध बताया और तब हमने ग्रहण किया। परन्तु बड़े खेद की बात है कि कुछ लोग अभी तक वैदेही को पापदूषित समझते हैं।"

इतना कह कर रामचन्द्रजी के नेत्रों से अश्रुधारा और भी अधिक वेग से बहने लगी। उस अपयश को सुन कर उनके हृदय में

जितनी वेदना हुई उतनी और कभी नहीं हुई। थोड़ी देर के पश्चात् उन्होंने कहा कि "जानकी की तो बात ही क्या, अपयश के डर से मैं अपने प्राण तक त्याग सकता हूँ और तुम सबको भी अलग कर सकता हूँ। मैं निन्दित जीवन को सर्वथा त्याज्य समझता हूँ। मुझे निन्दा से इतना अधिक दुःख होता है कि जितना मरण से भी नहीं हो सकता। इसलिए हे भाई, तुम कल प्रातःकाल जानकी को रथ पर चढ़ा कर गंगा के पार, तमसा नदी के तट पर, जहाँ वाल्मीकि मुनि का आश्रम है वहाँ ले जाओ और वहीं किसी एकान्त स्थान में उन को छोड़ आओ। अब इसमें किन्तु परन्तु करने का अवकाश नहीं है। यदि तुम मेरी कुछ भी प्रतिष्ठा या मान बनाये रखना चाहते हो तो मेरे कथनानुसार काम करो। बिना जानकी के त्याग किये इस अपयशरूप दुःख सागर से निस्तार नहीं हो सकता। आप ही उन्होंने तापस आश्रमों के दर्शन करने की लालसा भी प्रकट की थी। मैं उनको वहाँ जाने की आज्ञा भी दे चुका हूँ। ऐसा करने से उनकी कामना भी पूरी हो जायगी।"

इतना कह कर रामचन्द्रजी अश्रुविसर्जन करते हुए अपने शयनागार में चले गये और लक्ष्मण तथा भरतजी भी शोककातर हो कर वहाँ से अलग हो गये।

प्रातःकाल होने पर लक्ष्मणजी ने सुमन्त्र को रथ तैयार करने की आज्ञा देकर, सीताजी के समीप जाकर, उनसे कहा कि "आर्ये, आपकी इच्छा के अनुसार माननीय भ्राताजी ने आपको वन जाने की आज्ञा प्रदान की है। अभी रथ तैयार होता है। आप चलने के लिए तैयार रहिए।" सीताजी ने कहा कि "मैं तैयार हूँ। देखो, मैंने ये वस्त्र एकत्र बाँध रक्खे हैं। मैं इन्हें मुनिपत्नियों को दान दूँगी।"

इतने में ही सुमन्त्र रथ जोत कर ले आया। सीताजी को रथ

पर चढ़ा कर लक्ष्मणजी भी बैठ गये। थोड़ी ही देर में रथ अयोध्या से बाहर निकल गया। अनेक वन, उपवन, वाटिका, नदी, नद, सरोवर, तथा अन्यान्य प्राकृतिक दृश्यों को देख कर सीतादेवी को अपार हर्ष हुआ। वे मन ही मन अपने स्वामी के सत्स्वभाव और अनुरागशीलता की प्रशंसा करती हुई उनको आन्तरिक धन्यवाद देने लगीं। परन्तु उनका वह आनन्द थोड़ी ही देर मे हवा हो गया। उनका चित्त सहसा चंचल हो उठा। उनके नेत्रों के सामने अन्धकार छागया। उनका हृदय कांपने लगा और कण्ठ में शुष्कता आने लगी। यह देख कर सीताजी मन मे घबरा कर कहने लगीं कि इस समय मेरा मन सहसा क्यों घबरा गया! फिर वे लक्ष्मण की मुखाकृति को देख कर और भी चकित हो गईं। फिर उनका सन्देह और भी पक्का हो गया। वे लक्ष्मणजी से कहने लगीं कि "लक्ष्मण, न जाने क्यों इस समय मेरा हृदय व्याकुल सा होता जा रहा है। कहो, स्वामी तो सानन्द हैं? हमारे अन्य कुटुम्बी तो सब कुशली हैं? पुरवासियों पर तो कोई आपत्ति नहीं आनेवाली है?" सीताजी को अधिक व्याकुल देख कर लक्ष्मणजी अपने आन्तरिक शोकावेग को रोक कर, उनको समझाने लगे। सीताजी भी अपने स्वामी तथा अन्यान्य कुटुम्बियों और पुरवासियों की मङ्गल-कामना के लिए परमात्मा से प्रार्थना करने लगीं।

जब रथ गंगा के समीप पहुँचा तब दूर से ही गंगा को देख कर लक्ष्मणजी का हृदय अधीर हो उठा। उनसे भी शोक का वेग न रोका गया। वे फूट फूट कर रोने लगे। लक्ष्मणजी को अधिक व्याकुल देख कर सीताजी और भी अधिक घबराने लगीं। वे कहने लगीं कि "वत्स, तुम मुझको जल्द गङ्गापार पहुँचाओ। मैं ये वस्त्र-भूषण तपस्विनियों को दान करके केवल एक दिन आश्रमों का दर्शन कर कल अयोध्या को लौट चलूँगी। पहले तो मैं चाहती थी कि यहाँ

दो चार, दस, पांच दिन अच्छी तरह भ्रमण करके अयोध्या चलूँगी, पर इस समय मेरा मन व्याकुल हो रहा है। तुम्हारी विकलता को देख कर मेरा रहा सहा धैर्य्य भी जाता रहा। मैं तुम्हारे साथ कल ही चल कर स्वामी के दर्शन करना चाहती हूँ।"

तदनन्तर लक्ष्मणजी ने नाव के द्वारा सीताजी को गङ्गापार उतार दिया। गङ्गापार पहुँच कर लक्ष्मणजी भी अधीर हो उठे। उनसे शोकावेग और न रोका जा सका। वे बालकों की तरह फूट फूट कर रोने लगे। लक्ष्मणजी की यह दशा देख कर सीतादेवी विकल होकर कहने लगीं—"वत्स, जल्द बताओ, क्या बात है? तुम्हारे बड़े भाई तो कुशलपूर्वक हैं? उन्होंने ऐसी कौनसी बुरी बात सुनाने की आज्ञा दी है जो तुम उसके लिए इतने व्याकुल हो रहे हो? जल्द बताओ, मेरा हृदय घोर दुःख से विदीर्ण हुआ जाता है।" तदनन्तर लक्ष्मणजी ने धैर्य्य धारण करके गद्गद वाणी से कहा—"आर्ये, महाराज रामचन्द्रजी ने लोकनिन्दा के डर से तुम्हारा त्याग किया है। राज्य में कुछ लोग, तुमको रावण के यहाँ रहने के कारण, दूषित समझते हैं। यद्यपि रामचन्द्रजी तुमको सर्वथा सच्चरित्रा और निष्पापा समझते हैं, तथापि लोकापवाद के भय से वे तुम्हारा परित्याग करते हैं। बस यही वह स्थान है जहाँ तुम्हारे छोड़ने के लिए उन्होंने मुझको आज्ञा दी है। हाय! मेरे समान इस संसार में कोई अभागा नहीं है। यदि मैं इससे पहले ही मर जाता तो यह व्यर्थ का दुःख देखने में तो न आता। देवि, तुम रुष्ट न होना। इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं है। मैं तो रामचन्द्रजी का सेवक हूँ। उन्होंने जो आज्ञा दी है, उसका पालन करना मेरा धर्म है। यहाँ से समीप ही महर्षि वाल्मीकि मुनि का आश्रम है। वे हमारे पिता के परम मित्र थे। अब तुम उन्हीं के चरणशरण में अपनी शेष अवस्था व्यतीत करना; मुझ पर रुष्ट न होना; मेरे अपराध क्षमा करना।"

लक्ष्मणजी के मुख से ऐसे हृदयविदारक वाक्य सुनते ही सीताजी अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ीं। जब कुछ काल पश्चात् उनको कुछ चेत हुआ तब आँखों में आँसू भर कर कहने लगीं कि "हे लक्ष्मण, इसमें तुम्हारा कुछ अपराध नहीं। मुझे विदित होता है कि विधाता ने मेरा जन्म दुःखभोग के लिए ही किया है। ऐसा न होता तो मुझको ऐसे भारी भारी क्लेश क्यों भोगने पड़ते। अथवा विधाता का भी इसमें कुछ दोष नहीं। मैंने जैसे कर्म किये थे वैसा मैं फल पारही हूँ। अवश्य पहले जन्म में मैंने किसी स्त्री को उसके स्वामी से अलग किया होगा। यह दुःख उसी का फल है। मुझको निष्पापा समझ कर भी मेरे स्वामी जब मेरा परित्याग करते हैं तब इससे अधिक और मेरा क्या दौर्भाग्य होगा। हाय! मैं इस विजन वन में क्योंकर निर्वाह कर सकूँगी? मैं अपने दुखड़े को अब किसके सामने रोऊँगी? जब महर्षि और उनके शिष्य मुझसे मेरे परित्याग का कारण पूछेंगे तब मैं उनको क्या उत्तर दूँगी! हाय! मेरे कितने ही समझाने पर भी वे अवश्य यही समझेंगे कि किसी भारी दोष के कारण ही रामचन्द्रजी ने इनको निकाला होगा। हाय! मैं क्या कह कर उनको समझाऊँगी? हाय! लक्ष्मण! यदि मैं गर्भवती न होती, यदि रामचन्द्रजी का वंशधर गर्भ मेरे उदर में न होता, तो मैं निस्सन्देह तुम्हारे देखते ही देखते गंगा में डूब कर आत्मघात कर डालती। मैं तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं समझती। तुमने तो अपने भाई की आज्ञा का पालन किया है। अच्छा, अब मैं अपने कर्मों का फल भोगती रहूँगी। तुम अयोध्या को लौट जाओ और वहाँ जाकर तुम मेरी सासुओं से मेरी भक्तिपूर्वक चरण-वन्दना कहना और धर्मनिष्ठ महाराज से कुशल-प्रश्नपूर्वक अभिवादन करके मेरी ओर से निवेदन करना कि "मैं शुद्धाचारिणी हूँ या नहीं, और आप के चरणों में मेरा कितना अनुराग है, इन सब बातों को आप

अच्छी तरह जानते हैं। मुझे भी यह पूर्ण विश्वास है कि आपने जो मेरा, ऐसी दयनीय अवस्था में, परित्याग किया है वह सब लोकनिन्दा के भय से ही किया है। मैं जानती हूँ कि आप मुझको सर्वथा निष्पापा समझते हैं। आपने मुझको त्याग करके बहुत ही अच्छा काम किया। मिथ्या अपवाद भी यश को खा जाता है। इसलिए यशोर्थी को कभी मिथ्या अपवाद सहन न करना चाहिए। मुझे आशा है कि आप जिस तरह अपने भाइयों को चाहते हैं उसी तरह अपनी सारी प्रजा को चाहते रहेंगे। राजा का सबसे मुख्य धर्म प्रजा का मनोरंजन करना है। मुझे यह भी पूरा भरोसा है कि आप अपने निर्मल चरित्र पर कभी किसी प्रकार के भी कलङ्क का धब्बा न आने देंगे। मैं जानती हूँ और शास्त्रों का यही आदेश है कि स्त्रियों का सर्वस्व पति ही होता है। पति ही स्त्री का देवता, वही उसकी गति और वही उसका जीवन है। यदि आपके मङ्गल के लिए मेरा प्राण भी चला जाता तो मैं बड़ी प्रसन्न होती। अन्त में मेरा यही विनय है कि आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिएगा। मैं आप के चरणों को प्रणाम करती हूँ।"

सीताजी के इन वचनों को सुन कर लक्ष्मणजी का हृदय शोक से भर गया। उनसे और कुछ कहा न गया। उन्होंने सीताजी को प्रणाम किया और कहा कि "देवि, मैं जाता हूँ। तुम मुझ पर प्रसन्न रहना।" बस इतना कहते ही लक्ष्मणजी के नेत्रों से अश्रुजलधारा बह निकली। वे रोते ही रोते सीताजी की प्रदक्षिणा करके नाव पर जा चढ़े। बात की बात में नाव दूसरे तट पर जा पहुँची। लक्ष्मणजी बार बार पीछे को दृष्टि करके सीताजी को देखते थे और सीताजी भी बराबर उनकी ओर देखती रहीं। जब भ्रातृभक्त लक्ष्मणजी का रथ दूर निकल गया तब सीताजी फूट फूट कर रोने लगीं। उस समय उनको जितना दुःख हुआ उसका शतांश भी हम यहाँ वर्णन नहीं कर सकते।

सीताजी के हाहाकार से सारा वन गूँज उठा। सारा आश्रम भीषण आर्तनाद से भर गया। समीप ही कुछ ऋषिकुमार फल-पुष्प लेने आये थे। सीताजी के कारुणिक क्रन्दन को सुन कर वे उनके समीप आये। सीताजी की शोकभरी अवस्था को देख कर वे अपने आश्रम को चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने महर्षि वाल्मीकि से उनके रोने का समाचार कहा। सुनते ही महर्षि स्वयं उठ कर सीताजी के समीप पहुँचे। उन्होंने देखते ही सीताजी को पहचान लिया। उन्होंने पुचकार कर कहा—"पुत्रि, तुम राजा दशरथ की पुत्रवधू हो, राजर्षि जनक की पुत्री हो और धर्म-धुरन्धर महाराज रामचन्द्रजी की प्रियतमा पत्नी हो। तुम्हारे यहाँ आने का कारण मैं पहले से ही जानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम सर्वथा पवित्र हो। अब तुम रोओ मत। धैर्य धारण करो। अब तुम हमारे साथ चलो। हमारे ही आश्रम में सुखपूर्वक रहना। मैं तुमको पुत्री के समान सुखपूर्वक रक्खूँगा। यथासम्भव मैं तुमको क्लेश न पहुँचने दूँगा।"

महर्षि वाल्मीकि के अमृतमय वचनों को सुन करसीतादेवी ने उनको भक्ति से प्रणाम किया। और, वे यह कह कर कि "हे तपोधन, अब मैं आपके ही पवित्र आश्रम मे रह कर अपने दिन काटूँगी" वाल्मीकि के साथ उनके आश्रम को चल दीं। आश्रम में पहुँच कर सीताजी एक कुटी में ठहरा दी गईं। वाल्मीकि जी के कहने से वहाँ जितनी तपस्विनी रहती थीं वे सब सीताजी को सुख पहुँचाने की चेष्टा करने लगीं। देवी जानकी ऋषि-मुनियों और मुनिकन्याओं के सत्कार से बहुत प्रसन्न हुईं।

यद्यपि महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रह कर सीतादेवी ने अनेक प्राकृतिक दृश्य देखे, अनेक वन्य पदार्थों का सौन्दर्य्य निरीक्षण किया, तथापि उनके पतिविरहानलतप्त हृदय में कुछ भी शान्ति न हुई। भला

पतिदेवता नारियों को पति के परोक्ष में कभी सुख-शान्ति मिलती है? कभी नहीं। इस कारण अमावास्या की निश्चन्द्रिका रात्रि के समान सीतादेवी भी अपने अन्धकारमय जीवन के दिन काटने लगीं।

लोकापवाद के भय से रामचन्द्रजी ने सीतादेवी को वन में निकाल तो दिया, परन्तु वे उनको अपने हृदयमन्दिर से न निकाल सके। सीतादेवी ने अपने अनेक सद्गुणों से उनका हृदय यहाँ तक आकृष्ट कर लिया था कि उनके चित्त में सदैव सीताजी का ध्यान बना रहता था। दोनों परस्पर अनुराग के ऐसे दृढ़ बन्धन में बँधे हुए थे कि एक दूसरे का क्षणमात्र के लिए भी विस्मरण न होने देता था। शरीर-मात्र के सम्बन्ध से उनका विच्छेद हुआ था, किन्तु मानसिक विच्छेद उनका क्षणमात्र के लिए भी नहीं हुआ। सीतादेवी के वियोग से रामचन्द्रजी को जितना शोक हुआ होगा वह यहाँ लिखा नहीं जा सकता। जिस तरह गंगा के तट पर, वन में, सीतादेवी हाहाकार कर रही थीं उसी तरह अयोध्या में रामचन्द्रजी व्याकुल हो रहे थे। अपनी प्रेयसी के विना रामचन्द्रजी को सर्वसम्पन्ना अयोध्यानगरी भी निर्जन वन के समान दुःखदायिनी प्रतीत होती थी। उनका मन ऐसा उचाट हो गया था कि वे सर्वदा शोकसागर में निमग्न रहते थे। उनका मन किसी काम में भी नहीं लगता था। न वे किसी से मिलते थे, न किसी की बात सुनते थे और न राज्य का कोई कार्य ही वे करते थे। जिस समय उनको यह स्मरण आता था कि सर्वथा शुद्धाचारिणी, निरपराधिनी जनकनन्दिनी को हमने मिथ्या लोकापवाद के भय से वन में निर्वासित किया है, तभी उनके हृदय में दारुण दुःख की ज्वाला प्रज्वलित हो उठती थी। उनको न दिन में भोजन की इच्छा होती थी और न रात्रि में निद्रा आती थी।

इसी प्रकार तीन दिन व्यतीत हो गये। चौथे दिन लक्ष्मणजी ने

अयोध्या में सूना रथ ला खड़ा किया। लक्ष्मणजी को अकेला आया देख कर रामचन्द्रजी हाहाकार करके रोदन करने लगे। सबने बहुतेरा समझाया, परन्तु उनके पत्नीविरहानलदग्ध हृदय को कुछ भी शान्ति न मिली। यद्यपि उस समय लक्ष्मणजी को भी अत्यन्त शोक था, अपने बड़े भाई की ऐसी व्याकुलता देख कर उनका सुधीर हृदय भी अधीर हो उठा, तथापि उन्होंने जैसे तैसे बढ़े हुए शोक के वेग को रोक कर रामचन्द्रजी को समझाया। उन्होंने कहा—"प्रभो, आपने जिस प्रजारञ्जन के लिए ऐसा भारी दुष्कर कर्म किया है उसी राजधर्म का अब अनुष्ठान कीजिए। आपके समान महापुरुष ऐसी ऐसी बातों के लिए विमोहित नहीं हुआ करते। संसार में सभी सम्बन्ध क्षणभंगुर हैं। आपके समान महाज्ञानियों को किसी के भी विरह का इतना दुःख नहीं होना चाहिए। जिस लोकापवाद के भय से आपने ऐसा अलौकिक कार्य किया है, यदि आप इसी प्रकार शोक करते रहेंगे, राज्यकार्य का निरीक्षण न करेंगे, तो वह फिर भी बना रहेगा। सदैव शोक में व्याकुल रहने से वह लोकापवाद फिर वैसा ही नवीन हो जायगा। इसलिए अब आप शोक को दूर कीजिए; धैर्य्य को धारण कीजिए और अपने राज्यकार्यों की देखभाल में मन लगाइए।"

लक्ष्मणजी तथा अन्यान्य बन्धुवर्गों के समझाने से रामचन्द्रजी राजकार्य की देख भाल करने लगे, परन्तु सीताजी का विस्मरण उनके हृदय से क्षणमात्र के लिए भी न हुआ। ऊपर के मन से वे राजकार्य करते थे, परन्तु राजकार्य से निवृत्त होकर वे क्या करते थे? आप जानते हैं? वे समस्त आमोद-प्रमोद और भोग-विलास को तिलाञ्जलि देकर रात दिन प्रियतमा जानकीजी के ही ध्यान में मग्न रहते थे। सीताजी क्या गईं, मानो अपने स्वामी के आमोद-प्रमोद और भोग-विलास को भी अपने साथ ही लेती गईं। रामचन्द्रजी ने सीताजी के

साथ ही अपने सुख को भी निर्वासित कर दिया। सीताजी के चले जाने के पश्चात् राजकार्य अथवा प्रजा-पालन के कार्य को छोड़ कर रामचन्द्रजी को संसार में और कोई कर्तव्य ही न रह गया था। परन्तु ऐसी अवस्था में भी रामचन्द्रजी ने राज्य के प्रबन्ध में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने दी।

उधर, प्रभातकालीन चाँदनी के समान, मेघाच्छन्न बिजली के तुल्य, धूलिधूसरित स्वर्णरेखा की तरह, शोचनीय और प्रभाहीन सी होकर सीताजी वाल्मीकि मुनि के आश्रम मे रह कर तपश्चर्या करने लगीं। वे भी दिन रात स्वामी के ध्यान मे और उनके गुणकीर्तन में ही अनुरक्त रहती थीं। वे सदैव पतिदेव की ही मङ्गल-कामना किया करती थीं। उनको अपने निर्वासन का दुःख लेशमात्र भी न था। यदि उनको दुःख था तो यही कि वे पतिदेव की कुछ सेवा नहीं कर सकती थीं। पति से दूर होने पर भी उनका मन सदैव पतिदेव के चरणों मे ही अनुरक्त रहता था। उस समय सीतादेवी को जो दुःख हुआ उसको उन्होंने बड़ी धीरता से सहन किया। वे सदैव यही समझती रहीं कि स्वामी ने जो कुछ किया है सब उचित ही है। उन्होंने अपने निर्वासन के सम्बन्ध में कभी स्वप्न मे भी अपने पति के विषय मे किसी प्रकार का दुर्भाव उत्पन्न नहीं किया। वे सदैव पातिव्रत धर्म का पालन करती रहीं।

पाठक-पाठिकाओं को स्मरण होगा कि जिस समय रामचन्द्रजी ने सीतादेवी को निर्वासित किया था उस समय वे गर्भवती थीं। क्रमशः दस मास व्यतीत होने पर उनके यमज पुत्रों का प्रसव हुआ। उनके दोनों कुमार सौन्दर्य्य में देवकुमारों के तुल्य थे। वाल्मीकि मुनि ने बड़े हर्ष से उनका जातकर्म संस्कार करके विधिवत् नामकरण संस्कार किया। उन दोनों में जो कुमार अग्रज था, जो पहले हुआ था,

उसका नाम कुश रक्खा गया और दूसरे का लव। अपने देवतुल्य कुमारों को देख कर सीतादेवी के नेत्रों से हर्ष के आंसू टपकने लगे। महर्षि वाल्मीकि मुनि के द्वारा लालित और पालित होकर दोनों भ्राता जब बड़े हुए तब उनका सारा आकार-प्रकार रामचन्द्रजी के ही तुल्य दिखाई देने लगा। यद्यपि उन कुमारों का रहन-सहन और वेश-भूषा ऋषिकुमारों के समान था, तथापि महर्षि वाल्मीकि ने उनके सब संस्कार उसी रीति से कराये जिस रीति से कि क्षत्रियकुमारों के होने चाहिए थे। विद्यारम्भ संस्कार कराने के पश्चात् कुमार कुश और लव ने बहुत जल्द अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। उन्होंने अपनी कुशाग्रबुद्धि से अनेक शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये। वे अल्पकाल में ही पूर्ण विद्वान् हो गये।

वाल्मीकिरामायण के देखने से विदिति होता है कि जिस समय रामचन्द्रजी रावण को मार, सीतादेवी को साथ लेकर अयोध्यापुरी में आये थे और आकर राजतिलक करा कर राजकार्य करने लगे थे उस समय, एक दिन, नारद मुनि महर्षि वाल्मीकिजी से मिलने के लिए उनके आश्रम में आये थे। महर्षि वाल्मीकि मुनि के पूछने पर नारद मुनि ने कहा था कि "इस समय संसार भर में एक ही मनुष्य ऐसा है जो समस्त पुरुषों में उत्तम, धीर, वीर, धर्मज्ञ, सत्यसन्ध, प्रजापालक, गोब्राह्मण-सेवक, पितृ-भक्त, नीतिज्ञ, गुणी, कृतज्ञ, दृढ़व्रत, सच्चरित्र, परोपकारी, विद्वान्, समर्थ, प्रियदर्शन, जितक्रोध, तेजस्वी, क्षमा में पृथ्वी के समान, कुबेर के समान दानी, और महाबुद्धिमान् है। उनका नाम रामचन्द्र है। हे महर्षि, तुम उनका अलौकिक और पावन चरित काव्यरूप में वर्णित करो। मेरी सम्मति में रामचन्द्रजी के समान और किसी का चरित्र अनुकरणीय और पवित्र नहीं है।"

इस प्रकार देवर्षि नारद के उपदेश से महर्षि वाल्मीकि ने

"रामायण" नाम का काव्य निर्माण करना आरम्भ कर दिया। उस काव्य को उन्होंने छः काण्डों में विभक्त किया। जिन दिनों कुश और लव विद्या पढ़ कर योग्य विद्वान् हो गये उन्हीं दिनों वह बन कर सम्पूर्ण हुआ था। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि नें वह स्वरचित मनोहर काव्य कुश और लव को पढ़ा दिया। दोनों कुमारों ने मेधाबुद्धि के कारण उस बड़े काव्य को कण्ठस्थ कर लिया। उनकी वाणी बड़ी ही मधुर और रसीली थी। जब वे उस काव्य को वीणा बाजे के साथ गाते थे तब उनका गाना बहुत ही मनोमोहक होता था।

सीतादेवी के दोनों कुमार, अन्यान्य ऋषि-मुनियों की कुटिओं में जा जा कर, उस काव्य को सुनाया करते थे। एक तो मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजी का परमपावन चरित, दूसरे आदिकवि श्रीवाल्मीकि मुनि की ओजस्विनी कविता और तीसरे दोनों कुमारों की मिली हुई रसवती और मनोहारिणी वाणी। फिर क्या कहना था। सुवर्ण और सुगन्ध दोनों का एकत्र समावेश था। जिस समय वे गाते थे, मनुष्यों की तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते थे। उनके मनोहर गान को सुन कर ऋषि जन नाना प्रकार के पदार्थ उनको पारितोषिक में दिया करते थे।

एक बार महर्षि अपने आश्रम में विराजमान थे कि इतने में एक दूत ने आकर उनके हाथ में एक पत्र दिया। उन्होंने उस पत्र को खोल कर देखा तो उसमें रामचन्द्रजी के हस्ताक्षर थे। उसमें रामचन्द्रजी ने शिष्यवर्गों सहित वाल्मीकि मुनि को अपने यज्ञोत्सव में निमन्त्रित किया था। वाल्मीकिजी हर्षपूर्वक सशिष्य अयोध्या चले गये। कुश और लव भी उनके साथ थे। वहाँ जाकर वाल्मीकिजी की आज्ञा से दोनों कुमार जहाँ तहाँ रामायण का गान करने लगे। मुनि ने उनसे यह भी कह दिया था कि यदि रामचन्द्रजी तुमको बुला कर तुम्हारा गाना

वाल्मीकि आश्रम में सीताजी के सामने लव कुश का वाल्मीकीय रामायण गाकर सुनाना।
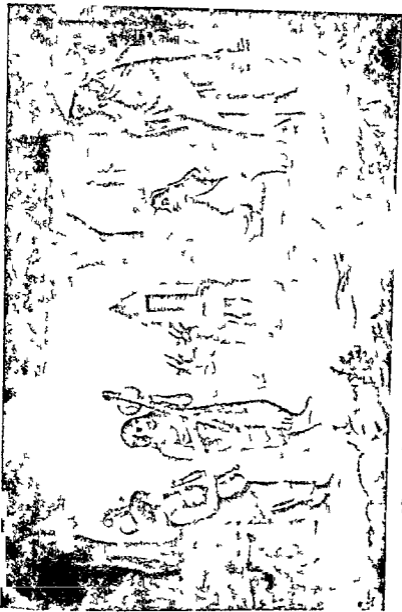
सुनना चाहें तो तुम वहां जाकर उनको भी प्रसन्नता से गाना सुनाना और जो वे कुछ धन तुमको पारितोषिक में देने लगें तो तुम उनसे कुछ मत लेना और कह देना कि हम फल-मूलाशी वनवासी तपस्वी हैं। हमें धन की आवश्यकता नहीं। और यदि वे तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहें तो तुम केवल इतना ही कह देना कि हम वाल्मीकि मुनि के शिष्य हैं। देखो, राजा सब का पिता होता है। तुम उनके सामने बहुत सभ्यता से गाना सुनाना।

गुरुजी के कथनानुसार कुश और लव जहां तहां जनसमुदाय में जा जा कर काव्य का गान करने लगे। जिसने उनका गाना सुना वही मोहित हो गया। उन्होंने जिस स्थान पर गान आरम्भ कर दिया वहीं सहस्रों स्त्री-पुरुषों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी।

जब रामचन्द्रजी ने भी उनके गाने की प्रशंसा सुनी तब उन्होंने अपनी सभा में उनको गाना सुनाने के लिए बुलवाया। वे सभा में आकर गाना सुनाने लगे। गाना सुनना तो दूर रहा, उनके सौन्दर्य्य और अपने शरीर के समान उनके अंगों को देख कर रामचन्द्रजी का हृदय प्रेम से पूरित होगया। उनको देखते ही रामचन्द्रजी के नेत्रों के सामने सीतादेवी की मूर्त्ति आ खड़ी हुई। वे अपने मन में समझ गये कि ये दोनों कुमार सीतादेवी के ही हैं। अपने पुत्रों को तपस्वियों के वेश में देख कर रामचन्द्रजी के नेत्रों में आंसू भर आये। वे अपने प्रेम-प्रवाह को और न रोक सके। उन्होंने उस समय शीघ्र सभा बन्द कर दी और उन कुमारों से कह दिया कि "अब तो तुम जाओ, फिर किसी दिन अवकाश मिलने पर हम तुम्हारा गाना सुनेंगे।" यह कह कर रामचन्द्रजी ने उनके गाने की बहुत प्रशंसा की और अपने कोशाध्यक्ष से उनको बहुत सा धन पारितोषिक देने की आज्ञा प्रदान की। परन्तु उन कुमारों ने धन लेना स्वीकार न किया। उनकी निर्लोभता को देख

आज्ञा दीजिए तो ये अपनी सच्चरित्रता का सबके सामने प्रत्यक्ष परिचय दें। यही दोनों राजकुमार आपके पुत्र हैं। मेरे ही आश्रम में इनके जातकर्मादि संस्कार हुए हैं। ये धनुर्वेद-विद्या में भी पूर्ण कुशल हैं। मैं सत्य विश्वास के साथ कहता हूँ कि सीतादेवी सर्वथा निष्पापा हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि आप भी इनको शुद्धा ही समझते हैं। आपने जो इनका त्याग किया है वह केवल लोकनिन्दा के भय से।"

तदनन्तर रामचन्द्रजी ने कहा—"भगवन्, आपका कथन यथार्थ है। आप जैसा कहते हैं, जानकी वैसी ही हैं। लङ्काविजय करने के पश्चात् भी हमने सबके सामने इनकी सच्चरित्रता का परिचय दे दिया था। परन्तु श्रीमन्, लोकनिन्दा बड़ी प्रबल होती है। मैंने केवल लोका-

कर रामचन्द्रजी और भी अधिक विस्मित हुए। फिर उन्होंने उनका परिचय प्राप्त करना चाहा। उन्होंने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया कि "महाराज, हम वाल्मीकि मुनि के शिष्य हैं।" परन्तु रामचन्द्रजी को निश्चय हो गया कि ये दोनों कुमार निश्चय जानकीजी के ही हैं। उनका ही नहीं, किन्तु लक्ष्मणजी तथा भरतजी का भी ऐसा ही विचार था। कौशल्या आदि वृद्धा रानियों ने भी उनको देख कर यही विचार किया।

जब रामचन्द्रजी को यह पूरा निश्चय होगया तब वाल्मीकि मुनि को बुलवा कर उनसे कहा कि "भगवन्, यदि जानकी शुद्धा हैं, सच्चरित्रा हैं तो आप उनसे कहिए, वे अपनी शुद्धि और सच्चरित्रता का प्रत्यक्ष परिचय दें। हमारे विषय में जो लोगों में कलङ्कभाव फैल रहा है उसे वे कल यहाँ आकर दूर करें।"

अगले दिन फिर सभा लगी। वहां बहुत से ऋषि-मुनि, राजा और मन्त्री आदि जन उपस्थित थे। उस यज्ञोत्सव में रामचन्द्रजी ने सुग्रीव, हनुमान् और विभीषण आदि मित्रों को भी निमन्त्रण दिया था। वे भी सब आये थे।

सभा में बैठ कर लोग भिन्न भिन्न प्रकार के आलाप करने लगे। इतने में ही महर्षि वाल्मीकि सीतादेवी को साथ लेकर सभा में आ पहुँचे। आगे आगे मुनि और पीछे पीछे जानकीजी थीं। जानकीजी उस समय तपस्विनियों के समान काषाय वस्त्र पहन रही थीं। यद्यपि स्वामिविरह तथा तपश्चर्या के कारण सीतादेवी बहुत कृश हो रही थीं, तथापि उनके मुखमण्डल पर पातिव्रत धर्म का तेज चमक रहा था। सीताजी की ऐसी दशा देख कर सारी सभा सजलनयन होकर हाहाकार करने लगी।

सभा में पहुँच कर महर्षि वाल्मीकि मुनि ने रामचन्द्रजी से कहा—"राजन, यही आपकी पतिव्रता धर्मपत्नी सीता हैं। आप इनको

आज्ञा दीजिए तो ये अपनी सच्चरित्रता का सबके सामने प्रत्यक्ष परिचय दें । यही दोनों राजकुमार आपके पुत्र हैं । मेरे ही आश्रम में इनके जातकर्मादि संस्कार हुए हैं । ये धनुर्वेद-विद्या में भी पूर्ण कुशल हैं । मैं सत्य विश्वास के साथ कहता हूँ कि सीतादेवी सर्वथा निष्पापा हैं । मैं यह भी जानता हूँ कि आप भी इनको शुद्धा ही समझते हैं। आपने जो इनका त्याग किया है वह केवल लोकनिन्दा के भय से।"

तदनन्तर रामचन्द्रजी ने कहा—"भगवन्, आपका कथन यथार्थ है । आप जैसा कहते हैं, जानकी वैसी ही हैं । लङ्काविजय करने के पश्चात् भी हमने सबके सामने इनकी सच्चरित्रता का परिचय देदिया था । परन्तु श्रीमन्, लोकनिन्दा बड़ी प्रबल होती है। मैंने केवल लोकापवाद के भय से ही इनको निकाला था; और किसी कारण से नहीं । मैं इस समय निष्पापा जान कर भी इनको, केवल निन्दा के डर से, ग्रहण नहीं कर सकता।"

जब सीतादेवी ने देखा कि अब रामचन्द्रजी मुझको झूँठी लोकनिन्दा के भय से, शुद्ध जान कर भी, ग्रहण न करेंगे तब उन्होंने अपना मरण ही निश्चय कर लिया । यही सोच कर वे भरी सभा में रामचन्द्रजी के ही सामने, अधोमुखी होकर पृथ्वी माता से प्रार्थना करने लगीं कि "हे मातृभूमि, तूही मेरी जननी है । तेरे ही द्वारा मेरे शरीर का वर्धन हुआ है और अब मैं चाहती हूँ कि मेरा यह शरीर तेरे विराट्रूप में मिल जाय ! अब मैं और क्षणमात्र भी जीवित रहने की इच्छा नहीं करती । हे माता ! पति ने मेरा परित्याग क्या किया, मानों मैं सब जगह से परित्यक्त हो चुकी । अब मुझे केवल तेरा ही आश्रय है । क्या तू मुझ दुखियारी पुत्री को सदा के लिए अपनी आनन्दमयी गोद में न लेगी ? नहीं, नहीं, माता मुझे पूर्ण विश्वास है कि अब मेरा यह शरीर सदा के लिए तेरी आनन्दमयी गोद में लेटेगा । हे पाँचभौतिक